नाट्य-निर्णय

नाट्य शास्त्र का सर्वोत्तम ग्रंथ

नाटक-रचना तथा नाट्यकला का ऐतिहासिक एवं मार्मिक विवेचना।

लेखक—

आचार्य रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल' एम० ए०

प्रकाशक—

अग्रवाल प्रेस, प्रयाग।

१९३०   मूल्य १=)

विषय-सूची

दो शब्द

नाटक काव्य-साहित्य का एक मुख्य अंग माना गया है, और वास्तव में वह है भी ऐसाही, क्योंकि नाटक में काव्य के सभी मुख्य गुण रहते हैं, साथ ही गद्यात्मक वार्तालाप, दृश्यों का प्रत्यक्षानुभवानन्द, संगीत तथा चरित्र-चित्रण के मनोरंजक और आवश्यक तत्व भी रहते हैं। अतएव नाटक का विषय साहित्याध्ययन के क्षेत्र में एक बहुत ऊँचा स्थान रखता है और इसका सांगोपांग परिचय प्राप्त करना प्रत्येक साहित्य-प्रेमी के लिये अनिवार्य ही ठहरता है।

अस्तु, इस विषय के ऐतिहासिक विकास तथा विवेचन का भी जानना आवश्यक और समीचीन जँचता है।

हमारे हिन्दी-साहित्य में नाटक का विषय अभी अपनी बाल्यावस्था में ही है, इस विषय पर अभी तक हमारे विद्वानों ने अच्छा कार्य नहीं किया। खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस विषय की अच्छी पुस्तकों का हिन्दी-संसार में अब तक अभाव हो सा है। कुछ थोड़ी सी पुस्तकें हमारे कुछ विद्वानों के द्वारा लिखी अवश्य गई हैं किन्तु वे इस विषय पर अत्यंत सूक्ष्म प्रकाश डालती हैं। अस्तु, हमारे विद्यार्थियों को इस विषय के अध्ययन में बड़ी कठिनाई तथा असुविधा पड़ती है।

इस विषय की ओर ध्यान गये बहुत थोड़े दिन बीते हैं। भारतेन्दु बाबू के ही समय तथा उनके ही प्रयत्न से, हिन्दी-जनता की प्रवृत्ति इस ओर कुछ चलने लगी है। अस्तु, अभी इस विषय में अच्छे प्रौढ़ कार्य की आशा करना एक प्रकार से ठीक नहीं।

श्रद्धेय पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, ने अपनी एक छोटी सी पुस्तक "नाट्यशास्त्र" के द्वारा इस पर कुछ रीति-ज्ञान सम्बन्धी प्रकाश डाला है, श्रीयुत बा० श्यामसुन्दर दास ने भी अपने "साहित्यालोचन" में इस विषय का दो अध्यायों में सूक्ष्म रूप से, विवेचना किया है, और भारतेन्दु बाबू ने भी अपने लेखों में इसका परिचय दिया है। यह सब सामग्री पर्याप्त रूप में नहीं कही जा सकती, यही देखकर हमने इस विषय की न्यूनता के पूरा करने का कुछ प्रयत्न किया है।

संस्कृत-साहित्य में नाट्यशास्त्र, दश रूपक तथा साहित्य-दर्पणादि कई ग्रंथ इस विषय की अच्छी विवेचना तथा व्याख्या करते हैं, किन्तु वे नाट्यकला तथा नाटक-रचना के ऐतिहासिक विकाश पर मौनवृत्ति ही धारण किये हुये हैं। इस ओर कुछ अंग्रेज़ी विद्वानों ने अवश्यमेव कार्य किया है किन्तु वह सर्व साधारण तथा हिन्दी के विद्यार्थियों के लिये पहुँच से बाहर है, अस्तु, हमने संस्कृत तथा अंग्रेज़ी-पुस्तकों से सार तत्वों को लेकर हिन्दी में ला रखने का यह [illegible] किया है। हमें कहाँ तक सफलता मिल सकी है तथा

हमारा यह प्रयत्न कितना उचितोपादेय है, यह हिन्दी-जनता के ही देखने तथा कहने का विषय है।

हम यहाँ यह भी कह देना चाहते हैं कि हमने संस्कृत के नाटक-रचना-सम्बन्धी उन्हीं सिद्धान्तों तथा नियमों को लिया है जिनकी आवश्यकता हिन्दी-नाटक-रचना के लिये वर्तमान समय में पड़ती है। उन सभी बातों या नियमों को हमने यहां छोड़ दिया है जिनको हम वर्तमान-हिन्दी नाटक-रचना के क्षेत्र में घटित नहीं कर सकते। समयादि के परिवर्तन से इस क्षेत्र में बहुत कुछ परिवर्तन तथा रूपान्तर हो गया है, अस्तु, हमें कतिपय प्राचीन सिद्धान्त या नियम छोड़ ही देने पड़े हैं। यदि हम देखेंगे तो आगे इसकी पुनरावृत्ति में उन्हें देकर इसे परिवर्धित एवं परिष्कृत कर देने का प्रयत्न करेंगे। वर्तमान रूपान्तरों तथा नवीन परिवर्तनपूर्ण बातों पर हमने अपने प्राक्कथन में सूक्ष्म ऐतिहासिक विकाश का दिग्दर्शन कराते हुये, प्रकाश डाला है।

इस पुस्तक में हमने नाटक-रचना की आवश्यक बातों या नियमों को उसी प्रकार छंदबद्ध कर दिया है, जिस प्रकार हमारे आचार्यों ने अलंकारशास्त्र के अलंकारादि को छन्दबद्ध कर दिया था। इससे विद्यार्थियों को उनके याद करने में सरलता तथा सुविधा होगी, क्योंकि गद्य की अपेक्षा पद्य जल्दी याद होता तथा देर तक मस्तिष्क में ठहरता है।

हमने इस पुस्तक में नाट्यकला (अभिनयकला) की विवेचना नहीं की, हां उसकी आवश्यक बातों की ओर संकेत अवश्यमेव कर दिया है; यह केवल इसी विचार से कि ग्रन्थ बढ़ जायगा, और साथ ही नाटक-रचना से इस कला का मेल भी न बैठेगा। हम अभिनय-कला या नाट्य-कला पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ पृथक लिख रहे हैं, उसी में हम प्राचीन तथा नवीन अभिनय (नाट्यकला) तथा रंगमंचादि का विस्तृत विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे। आशा है यह ग्रन्थ भी पाठकों की सेवा में शीघ्र ही पहुँच सकेगा। यह इसका द्वितीय भाग होगा।

अन्त में हम श्री द्विवेदीजी, बाबू श्यामसुन्दर दास तथा संस्कृत के साहित्य दर्पणादि के ग्रन्थकारों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं, क्योंकि इनके ग्रन्थों से हमें बड़ी सहायता मिली है। साथ ही मैं धन्यवाद देता हूं अपने मित्र बा० रामस्वरूप जी को जिनके कारण यह पुस्तक आज सामने आ रही है।

काव्य-कुटीर
प्रयाग।
८-५-३०

विनीत
रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल' एम० ए०

प्राक्कथन

मानव प्रकृति की अनेक वृत्तियों में से जो प्रवृत्ति अत्यंत प्रधान है वह है अनुकरण-प्रवृत्ति। इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से मनुष्य अपनी बाल्यावस्था से ही दूसरों की बातों का अनुकरण करता है और आजन्म वैसे ही या न्यूनाधिक रूप में करता रहता है। मनुष्य के ज्ञानानुभव का बहुत बड़ा अंश, यदि उसका सर्वांश नहीं, इसी के कारण एवं इसी के द्वारा बनता है। कहना चाहिये कि मनुष्य के समस्त प्रारंभिक ज्ञान की अट्टालिका इसी से एवं इसी के आधार पर बनती है। इसी प्रवृत्ति के कारण मनुष्य दूसरों के कार्यों, व्यापारों एवं क्रियाओं का अनुकरण किया करता है, चाहे वह न्यून रूप में हो या आधिक्य रूप में। मनुष्य न केवल दूसरों के कार्यों आदि का अनुकरण ही करता है वरन् उनकी चेष्टाओं प्रवृत्तियों और रूप रंगादि की नक़ल भी करता है। दूसरे की आंगिक क्रियाओं (चलना, फिरना, बोलना, हंसना, रोना, तथा हाथ पैर आदि अन्य अंगों के संचालन विशेषादि) का भी वह अनुकरण करता है और न केवल उन्हीं आदमियों का अनुकरण करता है जिन्हें वह देख चुका है या जिससे उसका कुछ भी परिचय या सम्बन्ध होता है वरन उन व्यक्तियों का

भी वह अनुकरण करता है जिनके विषय में उसने कभी कहीं कुछ सुना या पढ़ा है।

अब यह अनुकरण भी प्रायः दो मुख्य उद्देश्यों के साथ किया जाता है। १-आत्मशिक्षार्थ अर्थात् कुछ सीखने, अनुभव करने एवं ज्ञान प्राप्त करके लाभ उठाने के लिये। इस प्रकार के अनुकरण का सम्बन्ध विशेषतया उन बातों से होता है जो मानसिक और बुद्धि-विवेकात्मक होकर अन्तर्जगत की संबंधिनी होती हैं। यथा किसी आदर्श पुरुष के चरित्र एवं विचार-धारागत सिद्धान्तादि का अनुकरण करना, किसी विद्वान कवि या लेखक की शैली, विचार-धारा एवं भावादि का अनुकरण करना।

२—मनोरंजनार्थ—अर्थात् किसी व्यक्ति की आंगिक (शारीरिक) एवं अन्य क्रियाओं आदि का अनुकरण करना। यथा किसी के हंसने, बोलने, चलने आदि के ढंगों की नक़ल करना। यह प्रायः विनोद के ही लिये किया जाता है। इससे कभी २ अपने ही मन का रंजन होता है और कभी २ दूसरों का भी, ऐसा ही कभी २ केवल दूसरों के ही मनोरंज के लिये (तथा अपने कुछ आर्थिक लाभादि के लिये भी) किया जाता है। इस प्रकार इसके दो रूप हो जाते हैं। १ आत्म विनोदार्थ—यथा किसी का स्वागतादि करने के लिये उसकी नक़ल करना (इसीके एक विशिष्ट रूप को काव्य में "लीला भाव" कहते हैं)।

इससे भी अपने विनोद के साथ ही साथ कभी कभी औरों का भी मनोरंजन होता है। २ परविनोदार्थः—यथा बहुरूपिया आदि किसी की नकल करके (अपने आर्थिक लाभादि के अर्थ) औरों का मनोरंजन करते हैं।

इस प्रकार के अनुकरणों का विशेष सम्बन्ध शारीरिक या आंगिक क्रियाओं और चेष्टाओं आदि से ही होता है और केवल उन्हीं बातों को इनमें प्रधानता दी जाती है जो बहुत साधारण और विनोदप्रदायिनी ही विशेष रूप से होती हैं। साथ ही रुचि-पार्थक्य के आधार पर इसके अनेकानेक रूप हो जाते हैं। समाज, सभ्यता एवं समयादि के प्रभावों से भी इनमें रूपान्तर हुआ करते हैं। साधारणतया शिष्ट और अशिष्ट दो रूप ही इनके प्रधान होते हैं। शिष्ट रूप में सभ्यता, समाज एवं समयादि के अनुसार अधिक परिमार्जित एवं परिष्कृत सुन्दर सूक्ष्म संकेत का प्राधान्य रहता है किन्तु अशिष्ट रूप में इसके विपरीत ग्रामीणता, उद्दंड उच्छृंखलता तथा भद्दापन रहता है, अस्तु।

मनोरंजनार्थ अनुकरण या नक़ल करने के उन्नत, परिष्कृत एवं सौष्ठव-पूर्ण शिष्ट रूप को, जिसमें सुन्दर आंगिक अनुकरण के, जिसे अभिनय कहते हैं, साथ ही साथ मानसिक एवं चारित्र्यादिक अनुकरणों का भी अच्छा प्राधान्य रहता है, नाटक कहा जाता है। सच पूछिये तो नाटकों का मूल तत्व यही अनुकरण (अभिनय) है और मनुष्य की अनुकरणात्मक

प्रवृत्ति ही उसको उत्पन्न करने वाली है। वस्तुतः अनुकरण को देखकर आनन्द प्राप्त करने वाली प्रवृत्ति ही उनको प्रोत्साहित एवं प्रचलित करने वाली होती है।

मानव-प्रकृति की अन्य प्रवृत्तियों जैसे कलात्मक वृत्ति आदि से नाटकों को कला-कौशल पूर्ण विकास प्राप्त हुआ है और विवेक-बुद्धि से विवेचना-पूर्ण सुव्यवस्था मिली है। जिससे उसको साहित्यिक एवं काव्य-कौशल पूर्ण सुन्दर रूप मिलकर इतना विकास प्राप्त हो सका है।

अब नाटक के ये दो मुख्य रूप हो जाते हैं जिनकी विवेचना हम आगे कर रहे हैं। यहाँ निष्कर्षरूप में अभी यही कहना पर्याप्त है कि अनुकरण-प्रिय प्रवृत्ति से तो इनका जन्म और कला-कौशल-प्रिय प्रवृत्ति से इनका उन्नत विकास हुआ है। (इस विषय पर हम आगे चलकर विशेष प्रकाश डालेंगे)।

यह कला है या विज्ञान

सब से प्रथम बात, जिसे यहां पर हमें देखकर आगे बढ़ना चाहिये, यह है कि कला क्या है और शास्त्र एवं विज्ञान क्या है।

कला :—कला की परिभाषा विद्वानों ने इस प्रकार दी है :—

जिस विशिष्ट कौशल एवं गुण के द्वारा कोई वस्तु उपयोगी एवं सुन्दर हो जाती है उसे कला कहते हैं, अथवा कला किसी विज्ञान का वह व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक रूप है जिसके द्वारा हम उस विज्ञान के सिद्धान्तों एवं नियमों का उपयोग उचित रीति से करके कुछ कार्य कर सकते हैं। इस प्रकार कला हमें 'करना' सिखलाती है। कह सकते हैं कि कला एक प्रकार से विज्ञान (शास्त्र) का प्रयोगात्मक रूप ही है।

विज्ञान (शास्त्र):—किसी विषय का वह व्यवस्थात्मक ज्ञान है जो उस विषय से सम्बन्ध रखनेवाली बातों के यथोचित (निरीक्षित) आलोचन, विश्लेषण, तथा संश्लेषणादि के पश्चात् तर्क की सहायता से व्यापक नियमों की कल्पना करता है और प्रयोगात्मक उदाहरणों के द्वारा उनकी चरितार्थता को देख कर उनको एक उचित व्यवस्था-विधान के साथ व्यापक रूप में रखता है। यह सदा प्रमाण-पुष्ट रहता और सिद्धान्त-पूर्ण होता है।

अब इन परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुये जब हम अपने विषय को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि वह इन दोनों ही से सम्बन्ध रखता है और इसी से उसके दो रूप होते हैं, एक तो कला की कक्षा में आता है और दूसरा विज्ञान की।

वस्तुतः प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के कला और शास्त्र नामी दो रूप या पहलू होते हैं। नाटक का विषय इसका अपवाद

नहीं। हमारे विषय के उस रूप को जिसका सम्बन्ध कला से है —नाट्य कहते हैं और कभी २ उसके साथ कला शब्द को और जोड़ कर नाट्य-कला भी कहते हैं और उस रूप को जिसका सम्बन्ध विज्ञान से है, नाटक-रचना या नाट्य-विधान (नाट्य शास्त्र) कहते हैं।

नाट्य-कला तो शारीरिक अंगों का विषय होकर प्रयोगात्मक (व्यावहारिक) या कार्य-रूप है, किन्तु नाट्य-शास्त्र मानसिक या मस्तिष्कीय विषय होकर सैद्धान्तिक तथा बुद्ध्यात्मक ज्ञान-रूप है।

हमारा मंतव्य यहां नाट्य-शास्त्र के ही विवेचन का है तो भी प्रसंगवशात् हम बहुत ही संक्षेप रूप से नाट्य-कला का भी कुछ प्रदर्शन करा देना उचित समझते हैं, किन्तु इसके पूर्व हम अपने विषय से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ अन्य आवश्यक बातें भी यहां बतला देना चाहते हैं।

यह कहना बहुत कठिन है कि प्रथम कला का जन्म या उसकी सत्ता है अथवा प्रथम विज्ञान या शास्त्र की या यों कहिये कि प्रथम नाट्य-कला की सत्ता है या नाट्य-शास्त्र की। इस विषय पर आज तक कोई भी मत निश्चित नहीं हो सका। कला और विज्ञान के पौर्वापर्यक सम्बन्ध में बड़ा ही जटिल विवाद विद्वानों में चला आ रहा है और वह अब तक पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हो सका। कुछ विद्वानों का इसीलिये यह मत भी है कि दोनों में अन्योन्याश्रय एवं साहचर्य सम्बन्ध

है, दोनों परस्पर सहयोगी एवं सहकारी हैं। अस्तु, हम भी यही बात अपने विषय के सम्बन्ध में कह सकते हैं। यद्यपि कुछ लोगों का विचार ऐसा भी है कि प्रथम सम्भवतः नाट्य-कला की ही सत्ता रही होगी और आगे लोग नाटक-कौतुक करते रहे होंगे (न्यूनाधिक रूप में ही सही) उन्हीं के आधार पर उनको सुव्यवस्थित एवं सुष्ठु रूप देने के लिये उनके लिये उपयुक्त नियमों की कल्पना की गई होगी, और फिर उन नियमों का पालन करके नाट्य-कला में अभीष्टोचित विकासोन्नति के लिये परिमार्जन एवं परिशोधन किया गया होगा। बस इसी प्रकार नाटक को नियमों से नियंत्रित किया गया होगा। किन्तु कुछ लोगों का यह भी कहना है कि नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति या रचना प्रथम ही हुई और ब्रह्मा जी ने इसकी उत्पत्ति की, उसी के आधार पर नाट्यकला का निकास एवं विकास हुआ। इसीलिये नाट्यशास्त्र को ईश्वरीय या दैवी ज्ञान मान कर पंचम वेद भी कहा गया है। अब यदि हम विकास-सिद्धान्त (Theory of Evolution) के अनुसार तथा ऐतिहासिक प्रमाणों एवं प्रत्यक्ष प्रमाणों के भी आधार पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि आजकल जिस रूप में नाट्य शास्त्र, नाटक-ग्रंथ, एवं नाट्य-कला के कौतुकादि मिलते हैं उसमें विकास-सिद्धान्त सब प्रकार ही घटित हो जाता है, और ऐसा जान पड़ता है कि इनमें क्रमशः उत्तरोत्तर विकास होता चला आया है, और परिवर्तन का नूतन नर्तन सदा ही इनके क्षेत्र या रंग मंच पर होता रहा है तथा अब भी होता जा रहा है।

इस दृष्टि से विचार करने पर यही उचित जान पड़ता है कि नाट्यकला-कौतुक को ही प्रथम माना जावे और उसके ही आधार पर रचे गये नाट्यशास्त्र को द्वितीय स्थान दिया जावे अस्तु, यहाँ हम इसका विशद विवेचना न कर इस विषय के "ऐतिहासिक विकास" नामी अंश ही में करेंगे। यहाँ हम अपने प्रसंगानुसार अन्य बातें ही देना चाहते हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि नाटक का खेल, जो रंग-मंच पर पात्रों के द्वारा खेला जाता है, नाट्य-कला का रूप है। इसको भी सुचारु, मनोरंजक, शिष्ट (सभ्य) एवं सुव्यवस्थित करने के लिये नियमों की कल्पना की गई है और इस प्रकार इसको भी एक वैज्ञानिक या शास्त्रीय रूप प्राप्त हो गया है जो नाट्य-शास्त्र का केवल एक अंग या अंश ही है। अब यह देखने से पता चलता है कि नाट्यशास्त्र न केवल नाट्यकला-कौतुक के ही सम्बन्धी नियमों को बतलाता है वरन् उस रचना के भी नियमों को दिखलाता है जिनके अनुसार एक लेखक (नाटककार) नाटक (रूपक) लिखता है और जिसके ही आधार पर (जिसको ही प्रत्यक्षीकृत करने के लिये) रंग-मंच पर अभिनय के साथ पात्रों के द्वारा नाटक-कौतुक किया जाता है। अस्तु नाट्य-शास्त्र के दो अंग हैं :—

१—नाट्य-कला सम्बन्धी नाट्य-विज्ञान और २—नाटक-रचना सम्बन्धी नाटक-विज्ञान। नाट्य-शास्त्र का यह द्वितीय अंश भी अपने पूर्वांग के समान एक ऐसा प्रयोगात्मक रूप रखता

है जिसे हम उसकी कला कह सकते हैं, अर्थात् नाटक-रचना का विज्ञान तो शास्त्र के रूप में है, किन्तु नाटक की रचना स्वतः उस कला के रूप में है जिसका कलाकार एक नाटककार या नाटक का लेखक है। नाटककार के लिये नाट्य-शास्त्र का यह अंश ऐसे आवश्यक एवं उपयुक्तोपादेय नियम बतलाता है जिनका पालन करके वह अपने नाटक के सुचारु, सुव्यवस्थित एवं रोचक बना सकता है।

अब यहां पर भी फिर वही पूर्व प्रश्न उठता है कि प्रथम नाटकों की बिना किसी प्रकार के नियमों का पालन करते हुये रचना हुई और इस प्रकार प्रथम नाटक-रचना-कला की उत्पत्ति या सत्ता हुई अथवा प्रथम नाटक-रचना एवं नाटक-कारों के परिपालनार्थ कुछ उपयुक्तोपदेय एवं आवश्यक नियमों की कल्पना की गई तथा इस प्रकार प्रथम नाटक-रचना के शास्त्र की उत्पत्ति या सत्ता हुई। यह प्रश्न भी पूर्व प्रश्न की भांति विवाद-ग्रस्त एवं जटिल है। कुछ विद्वान तो विज्ञान को और कुछ कला को पूर्ववर्ती मानते हैं और कुछ, जो विकास सिद्धान्तानुयायी हैं, दोनों को सहचर एवं सहयोगी कहते हैं। साथ ही कुछ लोगों का विचार ऐसा भी है कि प्रथम नाटककारों ने खेलने के लिये नाटकों की रचना की होगी फिर उन नाटक-ग्रंथों का आलोचन करके उनके लिये उचित नियम बनाये गये होंगे और इस प्रकार नाटक-रचना कला तथा नाटक-रचना-विज्ञान (शास्त्र) का काम चला होगा।

ऐसे नाटककार एवं नाटक मिलते हैं जिनमें नाट्य-शास्त्र के (जो उनके पूर्व ही बन चुका था) नियमानुसार रचना-शैली नहीं मिलती, इससे यह स्पष्ट होजाता है कि नाटक-रचना-काल का ही प्राधान्य एवं उत्थान है, यही पूर्ववर्ती है और उसका विधान गौण एवं परवर्ती है। समय, समाज एवं परिस्थिति आदि के परिवर्तनशील प्रभावों के कारण दोनों में अन्तर एवं परिवर्तन होता चला आया है और होता ही रहेगा।

निष्कर्ष रूप में अब हम यों कह सकते हैं कि नाट्य-शास्त्र के दो मुख्य भाग हैं :—

१—नाट्यकला और नाट्य-विज्ञान

२—रूपक-कला और रूपक-शास्त्र

अब स्पष्ट है कि इस प्रकार यह विषय कला और विज्ञान दोनों पटल रखता है तथा दोनों ही शैलियों के अनुसार चलता है।

नाट्य-कला की उत्पत्ति

हम प्रथम ही कह चुके है कि नाटक को मनुष्य की अनुकरण करने वाली प्रवृत्ति ने ही जन्म दिया है। यह अनुकरण स्थूल रूप से दो प्रकार का होता है (१) आंगिक अर्थात् अंगों-प्रत्यंगों के द्वारा किसी की क्रियाओं का अनुकरण करना (२) मौखिक, अर्थात मुखके द्वारा किसीका अनुकरण करना। इन दोनों रूपों का सम्बन्ध मनुष्य से ही है अतः इसे हम एक प्रकार का सजीव एवं साकार अनुकरण

कह सकते हैं। इस प्रकार के मानवीय अनुकरण के अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार का भी अनुकरण होता है जिसका सम्बन्ध मनुष्य से न होकर निर्जीव पदार्थों से ही होता है। किसी एक पदार्थ को लेकर उसमें मानवीय अभिनय का आरोपण किया जाता है। यथा काष्ठादि के पुतले या पुतलियां बना कर उनसे मानव-व्यापारों का अनुकरण कराया जाता है। इस प्रकार के अनुकरण को हम निर्जीव अनुकरणाभास कह सकते हैं। इसमें वास्तविकता एवं स्वाभाविकता की मात्रा विशेष रूप में नहीं रहती। इस प्रकार के अनुकरण का मनोरंजक कौतुक आज कल भी देखा जाता है, कितने ही लोग कठ-पुतलियों का तमाशा किया कराया करते हैं। यह कृत्रिम और निर्जीव रहता है। अब इसमें भी विज्ञान एवं कला-कौशल के द्वारा बहुत कुछ सजीव स्वाभाविकता एवं वास्तविकता का संचार किया जा रहा है और बहुत कुछ किया भी जा चुका है। इसी प्रकार मानवीय व्यापारों का प्रकाशन एवं (अनुकरण के साथ) उनका प्रदर्शन चित्रों एवं आलेख्यों के द्वारा भी किया जाता है।

मानवीय व्यापारों के भिन्न २ चित्र एक साथ एकत्रित करके सुव्यवस्थित एवं यथाक्रमरूप में दिखलाये जाते हैं, जिनसे नाटक के समान आनंद प्राप्त होता है। इसमें भी विज्ञान एवं कला-कौशल के द्वारा अब बहुत कुछ उन्नति, एवं वृद्धि हो गई है और अभी और होती जा रही है। इसमें भी निर्जी-

यता का प्राधान्य रहता है। आज कल सिनिमा के खेल इसके परिवर्धित, परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप हैं। कह सकते हैं कि ये अनुकरणालेख्य एवं नाटक-प्रतिबिम्ब हैं। अब तो विज्ञान ने बोलने वाले सिनेमा का भी आविष्कार कर लिया है जिससे अब नाटकों का अभिनय एक प्रकार से पूर्ण या प्रतिबिम्बात्मक या आलेख्यात्मक ही हो जावेगा।

जहां तक सम्भव है प्रथम नाटकों का रूप इसी निर्जीवा नुकरण या निर्जीवाभिनय के ही रूप में रहा होगा, जो अब तक अपने उसी रूप में कुछ न्यूनाधिक विकास के साथ चला आ रहा है। इसके उपरान्त ही उस सजीवाभिनय का सूत्र-पात हुआ होगा, जो अब हमें बहुत पर्याप्त उन्नति एवं विकास-वृद्धि की दशा में प्राप्त हो रहा है।

इस सजीव एवं साकार अभिनय की उत्पत्ति, जैसा हम प्रथम ही लिख चुके हैं, मनुष्य की अनुकरण करने वाली प्रवृत्ति से ही हुई है। मनुष्य हासोपहास एवं मनोरंजन-विलासादि के ही लिये दूसरे किसी व्यक्ति के व्यापारों का अनुकरण किया करता है।

आज भी हम देखते हैं कि अनेकों बहुरूपिया अपने वेषादि में परिवर्तन कर अभिनयात्मक तमाशा किया करते हैं। हमारी राम-लीलायें, कृष्ण-लीलायें एवं अन्य प्रकार की रास लीलायें आदि इस बात को पूर्ण रूप से परिपुष्ट भी करती हैं।

सम्भवतः हमारे अभिनयात्मक नाटक इन्हीं के विकसित रूप हैं।

केवल मानवीय कार्यों एवं व्यापारों आदि का ही अनुकरण नाट्य-कला में प्रधान नहीं, वरन् उनसे सम्बन्ध रखने वाले स्थानों, परिस्थितियों, दृश्यों एवं अन्य वहिरंग आडम्बरों या उपकरणों का अनुकरण भी प्रधान होता है और इस प्रकार के अनुकरण कई साधनों के द्वारा चरितार्थ किये जाते हैं। समस्त साधनों में से ये ही मुख्य और प्रधान हैं:— १—कृत्तिम रचना अर्थात् दृश्य एवं स्थानादि की कृत्तिम सादृश्य मूलक रचना करना, तथा तदनुरूप कृत्तिम परिस्थितियों का उपस्थित करना २—पट (परदे) एवं यवनिकादि पर दृश्यों को चित्रित करना, ३—विद्युत्प्रकाशादि से दृश्यों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना।

अभिनय में; हम प्रथम ही कह चुके हैं, दो मुख्य अंग होते हैं, १—आंगिक, इसके अन्दर आंगिक क्रियायें यथा भ्रू-संगिमा मुख, नासिकादि की विशेष एवं विचित्र आकृतियों का बनाना हाथ-पैर आदि से कुछ विशिष्ट भाव-सूचक क्रियायें करना, वेष-भूषा, रूप रंग एवं वस्त्राभूषण का अनुकरण करना। इनके लिये नाट्य-कला का शास्त्रीय विभाग विशिष्ट नियम वतलाता है। किस पात्र को, किस समय, स्थान एवं प्रसंगादि में किस प्रकार के रूपरंग, वेष-भूषा एवं वस्त्राभूषण का प्रयोग करना चाहिये, इत्यादि वातें नाट्य-शास्त्र के अभिनयांग से जानी

जाती हैं। २-आन्तरिक या आहार्य।—इसके अन्दर भावनाओं, मनोविकारों (मनोवेगों) एवं अनुभूतियों (Feelings) उनके अनुभावों का अभिनय एवं अनुकरण आता है। किस अनुभूति या रस को किस भाव तथा ढंग से किस प्रकार की आंगिक चेष्टाओं के साथ किस प्रकार के स्वर में व्यक्त करना चाहिये, इन बातों के लिये विशेष नियम भी द्वितीय भाग में दिये जाते हैं। नाट्य एवं अभिनय के लिये इस प्रकार के नियमों का एक सुन्दर, सुव्यवस्थित, तथा सर्वाङ्ग पूर्ण स्पष्ट विवेचन अभी तक नहीं हुआ।

यद्यपि इसकी बड़ी आवश्यकता है, तथापि अब तक यह उपयोगी एवं आवश्यक विषय केवल मौखिक एवं प्रयोगात्मक कला के रूप में नाटक खेलने वाले कला-कुशल पात्रों के ही पास पड़ा हुआ है। इसको शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक रूप नहीं दिया जा सका और विशेषतया हमारे देश, तथा हमारी भाषा में तो इस विषय का एक प्रकार से पूर्ण अभाव ही है। किसी २ लेखक ने इस विषय पर कुछ थोड़ा प्रकाश कहीं २ डाला भी है किन्तु वह पर्याप्त नहीं। वेश-भूषा तथा भाषा आदि के विषय में प्राचीन आचार्यों ने कुछ स्थूल एवं साधारण नियम दिये हैं किन्तु वे भी वैज्ञानिक रीति से सुव्यवस्थित नहीं हैं।

इस प्रकार नाट्य-कला का सूक्ष्म परिचय देकर हम अब नाट्य-शास्त्र तथा नाटकों का ऐतिहासिक विवेचन देना उचित समझते हैं। —:o:—

नाटकों की उत्पत्ति

नाटक एक दृश्य काव्य या वह काव्य है जिसका अभिनय किया और देखा जाता है। इसे संस्कृत के आचार्यों ने "रूपक" की भी संज्ञा दी है, क्योंकि इसमें एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का रूप धारण करता है। चूंकि रूप धारण करना ही इसमें सबसे मुख्य बात है, इसीसे इसे रूपक कहा गया है। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि यहाँ रूप धारण करना ही सब कुछ नहीं है और यहीं नाटक या रूपक की इतिश्री नहीं हो जाती, और न वस्तुतः रूपक का यही मूल अर्थ भी है, हां यह उस शब्द का मुख्य अर्थ या भाव अवश्य है, किन्तु इसी के साथ जो व्यक्ति किसी का रूप धारण करता है वह उसी व्यक्ति के समान हाव, भाव, आचार-व्यवहार एवं कार्य आदि भी करता है, उसीके समान बोलता-चालता और यथासाध्य उसीके समान और दूसरे समस्त आचरण भी करता है जिससे उसमें और वास्तविक व्यक्ति में लोग (दर्शक) प्रत्यक्ष रूप में कुछ भेद न पा सकें और यही समझें कि मानो वही वास्तविक व्यक्ति उनके सम्मुख उपस्थित होकर अपना काम कर रहा है।

इस प्रकार अनुकरण (नक़ल) करने वाला व्यक्ति अपने ऊपर किसी दूसरे व्यक्ति के रूपादि का यथासम्भव पूर्ण रूप से समारोपण करके यही दिखलाने का पूर्ण प्रयत्न करता

अब अपने भावों आदि को दूसरों पर व्यक्त करने के लिये वह अनेक साधनों से काम लेता है, उनमें से एक साधन अनुकरण या नक़ल करना भी है और यह भी उसी प्रकार प्रधान एवं प्रबल है जिस प्रकार वाणी के द्वारा बोलना एवं इंगित (इशारों) से भावों का व्यक्त करना। यह भी हम अच्छी तरह से जानते और मानते हैं कि अनुकरण करने की प्रवृत्ति-मनुष्य में स्वभावतः ही बड़ी प्रधानता के साथ पाई जाती है, वह स्वभाव ही से अनुकरणप्रिय है। कह सकते हैं कि मनुष्य जो कुछ सीखता या करता है वह सब उसे अनुकरण के ही द्वारा प्राप्त हुआ करता है। बाल्यावस्था से ही प्रारम्भ करके वह आजन्म अनुकरण ही करता रहता है, चाहे वह किसी भी दशा में क्यों न हो। यही अनुकरण करने की प्रवृत्ति नाटक की उत्पत्ति का एक बहुत प्रधान एवं मुख्य कारण है, क्योंकि मनुष्य को नक़ल करने तथा किसी के अनुकरण को देखने में बड़ा आनन्द मिला करता है। अनुकरण करने की इस प्रवृत्ति में जब नाट्य का भी समावेश या सामंजस्य हो जाता है तभी मानों नाटक का श्रीगणेश हो जाता है।

नाट्य-युक्त अनुकरण से नाटक की उत्पत्ति होकर उसमें आगे चलकर कला आदि के द्वारा विकास एवं वृद्धि होती है। साहित्य के द्वारा उसमें काव्य-चारुता एवं मनोरंजकता आदि का भी समावेश किया जाता है और इस प्रकार नाटक एक सुन्दर साहित्यिक और कला-पूर्ण रूप में आ जाता है। नाटक

धार्मिक उत्सवों में पूर्ण रूप से हाथ बटाने तथा भाग लेने के लिये नृत्य एवं संगीत के द्वारा (जो मनुष्य को स्वभावतः ही अति प्रिय हैं) आकर्षक रोचकता लाई गई, जिससे जनता इनकी ओर आकृष्ट होकर इनमें पूर्ण रूप से आमोद-प्रमोद पा कर भाग ले और धार्मिक उत्सव भी अच्छी तरह मनाये जा सकें, धनधांन्यादि की उपज करने वाले देवताओं को धन्य-वाद दिया जा सके, उनका गुण-गान हो सके तथा उन्हें प्रसन्न किया जा सके। प्रथम धार्मिक उत्सवों में देवोपासन या देवा-र्चन का ही भाव प्रधान रहता था, किन्तु कुछ समयोपरान्त इनमें या कुछ नव संचालित उत्सवों में वीर-पूजन का भी प्राधान्य हो चला और ऐसे पूर्वज वीर पुरुषों के नाम पर कुछ उत्सव मनाये जाने लगे जिन्होंने देवोपम कार्य कर दिखलाये थे। इस प्रकार के धार्मिक उत्सव एवं त्यौहार अब तक, चीन, जापान, ब्रह्मा और भारतादि देशों में मनाये जाते हैं।

वीर एवं पूर्वज-पूजा सम्बन्धी इन उत्सवों के अवसरों पर लोग प्रायः उन्हीं पूर्वज, ऐतिहासिक प्रसिद्ध पुरुषों एवं वीरों के जीवनों की घटनाओं का वर्णन किया करते थे। कुछ समय के उपरान्त लोग उनका अभिनय भी कर चले और उनकी स्मृति को जागृत रखने के साथ ही साथ उसमें मनोविनोद के लिये संगीत, नृत्य एवं अभिनयादिक बातें और मिलाने लगे। अनुकरण-प्रिय प्रवृत्ति के कारण लोग उनकी

नक़ल भी करने लगे और इस प्रकार नाटकों की सृष्टि का प्रारंभिक रूप बन चला। हमारे भारत में अब भी इस प्रकार के उत्सव (वीर-पूजा-सम्बन्धी) वीर पुरुषों के अनुकरणादि के साथ उनकी स्मृति एवं उनके यशोगानादि के लिये मनाये जाते हैं, यथा कृष्ण-लीला, राम-लीला आदि कृष्णाष्टमी एवं विजयादशमी के अवसरों पर आज भी हिन्दुस्तान में विद्यमान हैं। ये लीलायें साधारण स्वांगों से परिवर्तित, परिमार्जित तथा विकसित होकर अब इन रूपों में आ गई हैं। वीर-कीर्ति-कीर्तन एवं उनकी स्मृति के जागृत रखने के लिये महाकाव्यों एवं चित्रमालाओं का भी विधान किया गया है, और सम्भवतः इन कलाओं की भी उत्पत्ति में उक्त उद्देश्य का एक प्रमुख प्रभाव है।

इन धार्मिक उत्सवों में नृत्य (नर्तन) का संचार कदाचित निम्न कारणों से ही किया गया जान पड़ता है :—

१—संगीत और नृत्य मनुष्य को स्वभाव ही से प्रिय लगते हैं। अत्यंत प्रसन्नता के प्राप्त होने पर मनुष्य स्वतः नाचने-गाने लगता है, हम कहा भी करते हैं कि मारे प्रसन्नता के वह नाचने लगा। हमारे कवियों ने इसका उल्लेख अपने ग्रंथों में भी किया है :—गोस्वामी तुलसीदासजी ने सुतीक्षण के प्रेम-प्रमोद का चित्रण करते हुये लिखा है :—

"निर्भर प्रेम-मगन मुनि ज्ञानी।""""
कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥"

२—संगीत और नृत्य मनोहारी होकर आकर्षक होता ही है, इसी से नाटकों में भी इसका समावेश किया जाता है। मानव-जीवन का मुख्य लक्ष्य आनन्द का प्राप्त करना ही है, और विशेषतया ऐसे ही व्यापारों में मानव-मन विशेष लग जाता है जिनमें उसे आनन्द मिलता है। संगीत और नृत्य आनन्द देनेवाले साधनों में से प्रधान हैं, इसीलिये मनोविनोदों के अवसरों पर भी इनकी योजना विशेष रूप से अवश्यमेव की जाती है।

२—नाटकों में इनका सन्निवेश मुख्यतया मनोविनोद एवं समाकर्षण के ही लिये किया जाता है। ऐसे स्थानों एवं प्रसंगों में ही इन्हें स्थान दिया जाता है जहां नाटक के कथनानुसार इनकी आवश्यकता अनिवार्य सी होती है।

इन उक्त मुख्य कारणों के साथ यह भी ध्यान में रख लेना चाहिये कि संगीत एवं नृत्य का समावेश प्राय: साधारण जनता के उपयुक्त साधारण कोटि के ही नाटकों में विशेष एवं प्रधान रूप से किया जाता है। उच्च कोटि की समाज तथा साहित्य के लिये जो नाटक रक्खे जाते हैं उनमें संगीत एवं नृत्य को कोई भी विशेष स्थान नहीं दिया जाता, और यदि दिया भी जाता है तो इनके उच्च कोटि के रूपों को ही। प्राय: साहित्यिक नाटकों में संगीत एवं नृत्य को स्थान न देकर उनके स्थानापन्न रूप में संगीतात्मक छंदों के गायन तथा अभिनय के कलापूर्ण रूपों को ही रक्खा जाता है। नृत्य और संगीत तो

गौण रूप में ही रहता है, प्रधानता इनमें रहती है अभिनय एवं वार्तालाप की ही।

धार्मिक उत्सवों में नृत्य और संगीत का समावेश प्रथम उन देवताओं तथा पूर्वज वीरों की आत्माओं को प्रसन्न करने के लिये ही किया गया था जिनके उपलक्ष में ये उत्सव मनाये जाते थे। इसीलिये इन धार्मिक उत्सवों में नृत्य एवं संगीत को प्रधानता भी दी जाती थी। यही बात है कि इन उत्सवों की लीलाओं के आधार पर जिस साहित्य की उत्पत्ति हुई है उसे भी इनके ही समान नाटक की संज्ञा दे दी गई, क्योंकि नाटक शब्द से यही सूचित भी होता है। इन लीलाओं को, चूंकि इनमें नृत्य की प्रधानता रहती थी, नट् धातु से, जिसका अर्थ नाचना है, बननेवाले नाटक शब्द से व्यक्त किया जाने लगा। संसार की सभी जातियों के नाटकों का इतिहास इसका प्रमाण है कि नाटक की उत्पत्ति वस्तुतः प्रारम्भ में नृत्य तथा संगीत से ही हुई है।

नोट:—साहित्यिक रूपक उसे कहते हैं जो रंग-मंच पर खेला नहीं जा सकता, किन्तु जिसमें नाटक के समान चित्रोपमता आदिक अन्य सभी गुण मानसिक आनन्द देते रहते हैं।

वीर-पूजनार्थ मनाये जानेवाले उत्सवों में वीरों का सम्मान एवं स्वागत करने तथा उन्हें प्रसन्न करने के लिये नृत्य एवं संगीत का आयोजन किया जाता है। नृत्य और गीत

का आयोजन किसी भी अभ्यागत के स्वागत-सत्कार के लिये अब भी किया जाता है, और नृत्य-गीत के साथ ही साथ कभी २ उन वीरों के किये (हुये) युद्धादि के समयों पर वीर कृत्यों का भी अनुकरण (अभिनय) उन वीरों तथा अन्य जनता के लिये किया जाता था। यह प्रथा ब्रह्मा, चीन, तथा जापानादि देशों में अब भी प्रचलित है। मृतकों तथा वीर मृतकों के लिये होनेवाले उत्सवों पर नृत्य-गान का चलन अब भी कतिपय जातियों में पाया जाता है। देश, जाति तथा धर्म के लिये रण-क्षेत्र में अपने को वीरता के साथ बलिदान करते हुये प्राण देने वालों की स्मृति तथा उनके सम्मानादि के लिये यही साधन मुख्य माना जाता था और वास्तव में है भी यह साधन उचित और मुख्य।

इस प्रकार के उत्सवों में नृत्य-गान के साथ लोग भाँति २ के चेहरों तथा वेष-भूषा के साथ उन वीरों का अभिनय भी करने लगे, इस प्रकार के स्वांग अब भी किये जाते और देखे जाते हैं। इन्हीं उत्सवों में अभिनय के साथ वार्तालाप और कथोपकथन भी रक्खा जाता है और इस प्रकार उन वीरों के वीर चरित्रों की घटना-पूर्ण कथाओं का स्पष्टीकरण एवं उद्घाटन भी किया जाता है। इस प्रकार ये बहुत अंशों में नाटक का ही रूप धारण कर लेते हैं। जापान में अब भी ऐसे उत्सव मनाये जाते हैं। हमारे यहां भी रामलीला आदि इन्हीं उत्सवों के अवशिष्ट रूप हैं। जापानी लोग इन उत्सवों को

"नो" (दुखांत या वियोगान्त नाटक) कहते हैं। ये प्रायः देव-मंदिरों में वहां के पुजारी की ही अध्यक्षता में होते हैं। दक्षिण अमेरिका के पेरू, बोलीविया एवं ब्रेज़िल आदि प्रान्तों में भी ऐसे उत्सव अब तक मनाये जाते हैं। एलास्का की जंगली जाति में भी ऐसे उत्सवों के मानने की प्रथा पाई जाती है, इनके मनाने का उद्देश्य वहां यही है कि इन्हें देखकर उन पर उनके देवगण एवं वीर आत्मायें प्रसन्न हों और उनकी सहायताकरें।

बेल्जियन कांगो (पश्चिमीय अफ्रीका) में तो ऐसे उत्सव इतने अधिक होते हैं कि एक प्रकार से वहां के धर्माचार्यों का व्यवसाय ही नाट्य हो गया है। कम्बोडिया की राजकीय रंगशाला का नाम "रंगरम" (नृत्यशाला) है, और यह सिद्ध करता है कि नाटक की उत्पत्ति नृत्य से ही हुई है। इन नृत्यशालाओं में हमारी वाल्मीकीय रामायण के ही अनुसार अभिनय होता है क्योंकि वहां रामायण का बड़ा आदर है अन्य नाटकों में तो वहां पुरुषों के साथ स्त्रयां ही अभिनय करती हैं किन्तु रामायण के अभिनय में केवल पुरुष ही अभिनय करते हैं और कोई भी स्त्री उसमें भाग नहीं ले पाती।

अब हम कह सकते हैं कि नाटक (नाट्य) की उत्पत्ति विशेष मनुष्य की उस प्रवृत्ति की प्रेरणा से हुई है जिसे हम अनुकरणकारिणी प्रवृत्ति कह सकते हैं और जिसके ही कारण मनुष्य स्वभावतः दूसरों का अनुकरण किया करता है।

इस अनुकरण के प्रधान उद्देश्य हुआ करते हैं १—आत्मा-भिव्यंजन अर्थात् अपने भावों के प्रकाशित करना, ऐसा करने के लिये यह वाणी और इंगित या आंगिक संकेतों या इशारों से काम लेता है इनसे भी जब यह अपने कुछ भावों के सुव्यक्त नहीं कर पाता तब यह अनुकरण या नक़ल करता है। ध्यान रखना चाहिये कि यह अनुकरण बड़े ही महत्व का है, अनुकरण के ही आधार पर हमारी भाषा के कतिपय शब्द (देखो इस सम्बन्ध में हमारा "भाषा-निर्माण" नामी ग्रंथ) तथा हमारे कतिपय व्यापारादि सिद्ध हुये हैं। अनुकरण से ही हम सदैव सहायता लेते रहते हैं। अनुकरण में एक विशेष प्रकार का आनन्द भी हमें मिलता है। इस आनन्द या मनो-विनोद के लिये भी अनुकरण किया जाता है, और जब ऐसा होता है तभी मानो नाटक का बीजारोपण हो चलता है। किसी दूसरे का रूप धारण कर उसका स्थानापन्न होकर उसी के समान कार्य करते हुये उसका अनुकरण करना ही नाटक का बीजांकुरित होना है। इस प्रकार के ही अनुकरण के अभिनय कहते हैं, जब ऐसे अनुकरण या अभिनय की प्रवृत्ति के साथ नाट्य का सहयोग होता है तभी नाटक का सूत्रपात होता है आगे चलकर इसी के साथ संगीत, नृत्य, भावभंगी (आंगिक संकेतात्मक अभिनय) एवं वेषाभूषानुकरणादि का भी सामं-जस्य कर दिया जाता है और जिस व्यक्ति का अनुकरण किया जाता है, उसकी जीवन-लीला की कथा का उद्घाटन भी

किया जाता है, ऐसा करने में वार्तालाप, और कथोपकथन का भी अंश उसमें आ जाता है तथा एक दृश्य-कौतुक तैयार हो जाता है। यद्यपि काव्य, उपन्यास तथा कथा आदि के द्वारा भी हमें किसी व्यक्ति की जीवन-लीलायें ज्ञात हो जाती हैं, किन्तु नाटक से हमें मानों उनका साक्षात्कार ही हो जाता है। इसी लिये नाटक को दृश्य-काव्य कहते हैं। नाटक से मन, नेत्रों और कानों को आनन्द प्राप्त होता है, किन्तु महाकाव्यादि से केवल मन को ही सुख मिलता है। यह अवश्य है कि नाटक महाकाव्य या कथादिक पर ही अपनी लीला के लिये आधारित रहता है।

उक्त लेखांश से यह स्पष्ट ही हो चुका होगा कि नाटकों की उत्पत्ति के ३ मुख्य रूप हुये हैं :—सब से प्रथम किसी व्यक्ति की लीलाओं का अनुकरण-सम्बन्धी चित्रण प्रारम्भ हुआ, जिससे चित्र-कला तथा कठपुतलियों आदि का खेल उत्पन्न हुआ। जब इनसे भी संतोष न हुआ तब आगे चलकर मनुष्य ही स्वांग बनाकर तथा वेषभूषा आदि का अनुकरण करते हुये दूसरे का रूप धारण कर अभिनय करने लगे, यह द्वितीय रूपान्तर हुआ। इसमें वार्तालाप एवं अन्य प्रकार का अभिनय न किया जाता था, केवल रूप बदलकर ही कुछ पात्र बैठा दिये जाते थे और उनके सामने एक व्यक्ति उस व्यक्ति की, जिसकी जीवन-लीलाओं का उद्घाटन किया जाना अभीष्ट होता था, कथा का वर्णन कर दिया करता था। ऐसा अब

भी किया जाता है, और राम तथा कृष्ण की मूर्तियां बनाकर बिठा दी जाती हैं और एक आदमी रामायण लेकर पढ़ जाता है। ऐसा प्रथम देव-मंदिरों में ही पुजारियों के ही द्वारा प्रस्तर या धातु की मूर्तियों के सम्मुख किया जाता था, उसके पश्चात् मनुष्यों के द्वारा रूप धारण करके कथोद्घाटन करने का चलन हुआ।

कुछ कालोपरान्त इस प्रकार के कौतुकों में कथोपकथन या वार्तालाप तथा अभिनय भी रक्खा जाने लगा। संगीत तथा नृत्य तो प्रथम से ही उपस्थित थे, बस अब नाटक का उदय हो चला, यह नाटक का तृतीय रूप था। इसी रूप का फिर धीरे धीरे विकास हो चला और अब इसे अच्छा विकसित तथा परिष्कृत रूप प्राप्त हो गया है, क्योंकि अब नाट्याभिनय में सजीवता, स्वाभाविकता तथा वास्तविकता के प्रदर्शन की मात्रा अत्यंत विकसित, परिष्कृत एवं परिवर्धित रूप में आ चली है, जैसी प्रथम न थी।

यह भी उक्त लेखांश से स्पष्ट हो चुका होगा कि नाटकों का प्रारम्भ प्रथम धार्मिक उत्सवों से ही हुआ है। देव-मंदिरों में देवताओं के प्रसन्न करने तथा उनके आदर्शों को जनता के सामने उपस्थित करने और धार्मिक त्योहारों के शुभावसरों पर देवताओं या वीर पुरुषों की स्मृति को जागृत करने तथा मनोविनोद के लिये नाटकों का प्रारम्भ किया गया था, जिनका न्यूनाधिक रूप हमें अब भी दशहरे के अवसर

पर होनेवाली रामलीला तथा कृष्णाष्टमी के समय पर होनेवाली कृष्णलीला आदि में प्राप्त होता है। नाटक का प्रारं-भिक रूप हमें बहुत कुछ होली के त्योहार पर होनेवाले स्वांगों में भी दिखलाई पड़ता है।

धार्मिक उत्सवों के पश्चात नाटक में रूपान्तर वीर-पू
के कारण भी हुआ और देव-लीला के स्थान पर नाटक व
लीला पर आधारित हो गये। किसी वीर पुरुष की जीव
लीला का उद्घाटन नाटकों के द्वारा किया जाने लगा।
वीर पुरुष कभी तो सर्वथा कल्पित ही होते और आदर्श
में ही रक्खे जाते थे, और कभी ऐसे पुरुष-रत्न होते थे जिन
देवत्व या दैवी गुणों की सत्ता एवं महत्ता होती थी। दो
ही दशाओं में अभिनय की सामग्री पर्याप्त रूप से प्राप्त ह
जाती थी। साथ ही दोनों ही दशाओं में मनोविनोद के सा
ही साथ आदर्श-शिक्षण तथा वीर पुरुषों की स्मृति में जाग्रति
लाने का अभीष्ट कार्य भी पूर्ण हो जाता था। इस प्रकार के
अभिनय में पात्रगण चेहरे लगाकर वार्तालाप के साथ अभिनय
भी करते थे और यथासमय नृत्य एवं संगीत की भी योजना
कर देते थे। यही नाटकों का प्रारम्भ एवं विकास है। अब तो
यही नाटक पूर्णतया विकसित रूप में आ गया है, और इसका
इतना विकास एवं विवर्धन हो गया है कि नाटक के सभी
दृश्य [illegible] की सहायता से साध्य हो गये हैं, साथ
[illegible] ने नाटक को चित्र-कौतुक में ही रूपान्तरित

कर दिया है और पात्रों की आवश्यकता ही नहीं रक्खी। सभी बातें अब यंत्रों से होने लगी हैं, इन यंत्रों से चित्रित किये जानेवाले नाटक को सेनिमा-कौतुक कहते हैं। इसमें छाया-चित्रों* के ही द्वारा नाटक दिखलाया जाता है और साथ में ग्रामोफोन के सिद्धान्त पर तैयार की हुई मशीन से कथोप कथन भी करा दिया जाता है।

अब हम नाटकों के कौतुकों का वर्गीकरण दिखलाकर भारतीय नाटक-विधान की सूक्ष्मालोचना करेंगे।

नाटकीय कौतुक को हम साधारणतया यों विभक्त कर सकते हैं:—

१—प्रारम्भिक रूप—

क—किसी व्यक्ति विशेष की जीवन-लीलाओं या घटनाओं को चित्रों के द्वारा प्रकट करना।

ख—मूर्तियों के द्वारा जीवन-कथा का प्रगट करना।

ग—कठपुतलियों आदि के द्वारा मानव-व्यापारों का अभिनय एवं अनुकरण करना।

---

*नोट:—कविवर भवभूति ने अपने उत्तर रामचरित में यह सूचित किया है कि श्रीरामचन्द्र जी की जीवन-लीलायें और घटनायें उनकी चित्रशाला में चित्रों के द्वारा चित्रित की गई थीं, और उन चित्रों को सीता जी ने श्रीराम एवं लक्ष्मण के साथ स्मृति एवं मनोविनोद के लिये देखा था। उत्तर रामचरित का छाया नामी अंक भी यही सूचित करता है।

घ—स्वांग बनाकर किसी व्यक्ति के वेषभूषा आदि का अनुकरण कर उसका स्थानापन्न होना।

२—विकसित रूप:—

१—केवल रूप धारण कराके जीवन-कथा का पाठ करना। यह रूप अब भी रामलीला आदि में कुछ अंशों तक देखा जाता है।

२—न केवल रूपादि का ही अनुकरण करना वरन् अन्य बातों (कार्यों, वार्तालापादि) का भी अनुरण करते हुये पूर्ण अभिनय करना। यथा-बहुरूपिया आदि का अभिनय।

३—वर्तमान रूप:—

सब प्रकार स्वाभाविकता, सत्यता एवं प्रत्यक्षता की पुट देते हुए उक्त विकसित रूपों को संस्कृत एवं परिष्कृत करके अभिनय करना।

इस वर्गीकरण के पश्चात् हम यहां यह भी कह देना उचित समझते हैं कि अभिनय-प्रधान नाटकों के विकास का भी विभाजन सूक्ष्म रूप से यों किया जा सकता है:—

१—प्रारम्भ— धार्मिक उत्सवों में देवादि के प्रसन्न करने के लिये नृत्य एवं संगीत के साथ, उनके स्तुत्य कार्यों को अभिनय के साथ प्रकट करना।

२—विकास— धार्मिक उत्सवों में देवताओं के अतिरिक्त वीरों एवं पूर्वज महापुरुषों की स्मृति एवं उनके आदर्शों की शिक्षा का प्रचार करने के लिये नृत्य एवं संगीत के साथ अभिनय करना।

३—वर्तमान— दृश्यादि-प्रदर्शक पर्दों से सुसज्जित रंगशाला में पूर्ण विकसित एवं परिष्कृत रूप से वार्तालापादि के साथ वास्तविक ढंग पर अभिनय करना।

४—वैज्ञानिक नाटक-चित्रण :—प्रगतिशील चित्रों के द्वारा सस्वर यंत्रों के साथ नाटक करना। इस रूप को हम नाटक-चित्रण या नाटकाभास कह सकते हैं, क्योंकि इसमें नाटक के अभिनय का प्रतिबिम्ब एवं चित्रात्मक आभास ही रहता है। इसे सिनेमा (बायस्कोप) एवं (Speaking Cenima) कहते हैं।

ध्यान रखना चाहिये कि नाटक-कौतुक में प्रथम धार्मिक भावों की ही प्रधानता थी, मनोविनोद तथा जनता के प्रमोद का भाव गौण रूप में ही रहता था, किन्तु ज्यों २ विकास होता गया त्यों ही त्यों मनोविनोद का भाव प्रधान होता गया और धार्मिक आदर्श का भाव गौण होता गया। यह अवश्य है कि इसके साथ आदर्श शिक्षण एवं चरित-चित्रण का भाव अवश्यमेव उठता गया और अब प्रधान रूप में आ गया है। अस्तु, अब हम

भारतीय नाटक-कला का कुछ सूक्ष्म विवेचन यहीं पर कर देना उपयुक्त समझते हैं क्योंकि उक्त विवेचन तो एक साधारण एवं व्यापक रूप में ही किया गया है, और न्यूनाधिक रूप में सभी देशों के नाटकों पर चरितार्थ एवं घटित होता है।

भारतीय नाटक-विधान

यह एक पुष्ट बात है कि प्रथम हमारे देश में काव्यों का ही विकास-प्रकाश प्रारम्भ हुआ था, और हमारे कवियों ने गीत काव्यों, महाकाव्यों तथा कथा-काव्यों की रचनायें की थीं। इनमें प्रायः वीर पुरुषों के आदर्श कार्यों एवं व्यापारों का वर्णन किया जाता था और उन्हीं पुरुषों की स्तुत्य जीवन-कथा पर्याप्त प्रशंसा के साथ लिखी जाती थी। इन काव्यों से पाठकों और श्रोताओं को मानसिक आनन्द ही प्राप्त होता था, और उन्हें अपने मस्तिष्क में ही अपनी कल्पना की चित्रण-कारी शक्ति की सहायता से इन कथानकों को चित्रित करके देखना पड़ता था। इसलिये लोगों ने यह विचार किया कि यदि इन कथाओं को हम अपनी आंखों के सामने प्रत्यक्ष रूप में भी अनुकृत होते देख सकें तो और भी अच्छा हो। इसी भावना की प्रेरणा तथा अनुकरणकारिणी शक्ति के प्रभाव से नाटक की उत्पत्ति हुई और फिर क्रमशः शनैः शनैः उसका विकास होता

गया। नाटकों के विकास के भिन्न २ सोपानों एवं रूपों पर हम प्रथम ही आवश्यक प्रकाश डाल चुके हैं, यहाँ हमें यही देखना है कि नाटकों की उत्पत्ति सब से प्रथम कहाँ और कैसे हुई।

यह संसार के प्रायः सभी प्रमुख विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार परम प्राचीन, सभ्य एवं समुन्नत देश भारत अन्य सभी प्रकार की विद्याओं, कलाओं एवं उपयोगी बातों का आविष्कर्ता है, उसी प्रकार वह नाटकों का भी सब से प्रथम विकाशक एवं प्रकाशक ठहरता है। अब प्रश्न उठता है कि यदि भारत में ही इसका आविष्कार सब से प्रथम हुआ तो वह किस प्रकार, कहां, कब और किसके द्वारा हुआ? हम इस प्रश्न पर चारों ओर से स्थानाभाव के कारण केवल विहंगम दृष्टि से ही यहां विचार कर सकते हैं।

यह तो सर्व-मान्य एवं निर्विवाद ही है कि विश्व-मंडल के सब से प्राचीन, प्रशस्त एवं प्रधान ग्रंथ हमारे वेद ही हैं और उन चारों वेदों में से सब से महत्व-पूर्ण एवं पुरातन ऋग्वेद ही है। इस ऋग्वेद के प्रातस्मरणीय मंत्रों से ही यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि उसके समय में नाटक के प्रायः सभी मुख्यांग उसी प्रकार उपस्थित थे जिस प्रकार अन्य महाकाव्यों, गीतकाव्यों, आख्यानों एवं कथोपकथनादिकों के। वेद में प्रायः सभी प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं के मूल तत्व पाये जाते हैं, इसीलिये हम कह सकते हैं कि वेदों के

समय में भारत उन समस्त विद्याओं एवं कलाओं का आविष्कार कर चुका था। पाश्चात्य विद्वान भी एक स्वर से यही मत इसी आधार पर प्रकट करते हैं,०।

० प्रो० मैक्समूलर (Maxmullar) डा० कीथ (Dr. Keith) प्रो० मैकडानल (Prof. Macdonald) मि० पिशल (Mr. Pichal) और मि० लोवी (Mr. Lovie) आदि का यही विचार है।

हां रिजवे महाशय ने इसका विरोध किया है, किन्तु उनका पक्ष प्रमाण एवं तर्क से पुष्ट नहीं, केवल काल्पनिक ही रूप में है। अपनी बातों को वे स्वयमेव आगे चलकर काट देते हैं।

वे यह तो मानते हैं कि वेद में नाटक के प्रायः सभी प्रधान तत्त्व उपस्थित हैं, किन्तु उसमें अभिनय (नक़ल) नहीं है, अतः उसमें नाटक का होना ठीक नहीं। यह बात कुछ अंश तक ठीक तो है, किन्तु उन्हें यह भी देखना या विचारना चाहिये था कि वेद में नाटक के सर्वांगपूर्ण रूप का होना नहीं कहा जाता, केवल उसके प्रधान तत्वों का ही होना बतलाया जाता है और साथ ही वे प्रधान तत्व साहित्यिक नाटक-रचना के ही कहे जाते हैं, न कि नाटक या नाट्य कला के। अभिनय तो नाटक-रचना में न आकर नाटक के खेल में ही प्रधानता के साथ आता है, इसीलिये वेद में इसका अभाव है। वेद से यह तो सिद्ध ही है कि उस समय में नाटक के सब आवश्यक एवं मूल तत्व उपस्थित थे, और इसीलिये कह सकते हैं, कि उनके आधार पर

कदाचित नाटक रचे भी जाते रहे होंगे, और जब नाटक रचे जाते रहे होंगे, तब उनमें से कुछ खेले भी जाते रहे होंगे।

रिजवे साहब अपनी पुस्तक में आगे चलकर यह स्वीकार करते हैं कि महर्षि पाणिनि और भगवान पतंजलि के समय में नाटकों का यथोचित विकाश हो चुका था। यह लिखते हुये उन्हें यह भी विचारना और लिखना चाहिये था कि अवश्य ही नाटकों का प्रारम्भ उक्त दोनों महर्षियों से कई सौ वर्ष पूर्व ही हुआ रहा होगा, तब उनका क्रमश धीरे धीरे उनके समय तक में ऐसा सर्वांग पूर्ण यथेष्ट विकास हो पाया था। आपने भारतीय नाटकों के प्रारम्भादि का कोई भी समय नहीं निर्धारित किया। किन्तु उक्त बात से यही अनुमान किया जा सकता है कि वेदों के ही समय में अथवा उनके काल के कुछ ही पश्चात नाटक-रचना का प्रारम्भ हो चुका था और फिर उसका विकाश क्रमश. होता हुआ चला आया और पाणिनि के समय में वह यथेष्ठ रूप से उन्नति को प्राप्त हो गया।

यह बात हम केवल नाटक-रचना के ही सम्बन्ध में कह रहे हैं और कह भी सकते हैं, नाटक-कौतुक के विषय में नहीं, क्योंकि नाटक के खेले जाने तथा अभिनयादि के किये जाने का पुष्ट प्रमाण हमें प्राप्त नहीं होता। अभिनय का कब से, कहां से एवं किसके द्वारा किस प्रकार प्रारम्भ किया गया यह। सतर्क एवं सप्रमाण निश्चित नहीं। हां, हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि पाणिनि के कई हज़ार वर्ष पूर्व से इस देश में

विकास हो चुका था कि वे भिन्न २ रूपों में विभक्त कर दिये गये थे।

उच्च समाज एवं उच्च कोटि के साहित्य के लिये जो नाटक होने थे वे साधारण समाज एवं साधारण श्रेणी के साहित्य से पृथक रहते थे और इसी प्रकार वे पृथक २ खेले भी जाते थे। इनके लिये रंग-शालायें भी भिन्न २ प्रकार की बनायी जाती और पृथक रहती थीं। अस्तु, सिद्ध है कि श्रीभरत मुनि के समय में नाटक-कौतुक, रंगशाला, नाटक-रचना तथा नाट्य-शास्त्र का यथेष्ट रूप से पूर्ण विकास हो गया था।

हमने नाटक-कौतुक के सम्बन्ध में लिखते हुये प्रथम ही उसकी प्रारम्भिक अवस्था पर कुछ प्रकाश डाला है और वहीं कठ-पुतलियों के नाच (कौतुक या खेल) का भी उल्लेख किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी कठपुतली के खेल को नाटक-कौतुक का एक बहुत प्राचीन तथा प्रारंभिक रूप माना है। हम भी यही मानते हैं किन्तु हमारा इसके साथ ही यह भी कहना है कि नाटक-कौतुक तथा नाटक के मूलातिमूल तत्व का, जिसे अभिनय एवं अनुकरण (नकल) कहते हैं, सबसे प्रारम्भिक रूप चित्र-लेखन ही है, उसके पश्चात मूर्ति-रचना तथा पुत्तलिका-कौतुक (गुड़ियों का खेल) आता है। गुड़ियों का खेल ही विकसित अवस्था को प्राप्त होकर काष्ठपुत्तली-कौतुक में रूपान्तरित हो गया हुआ जान पड़ता है। इस कठपुतली

के खेल मे दो प्रकार के कौतुक भिन्न २ रूपों में आगे चलकर विकसित हो गये हैं, एक रूप तो इसका नाटक का खेल है और दूसरा रूप छाया-चित्र-कौतुक या सिनेमा है। चित्र-कौतुक भी इसी के साथ ही साथ होता था और अब भी कहीं कहीं पाया जाता है, यथा गुजरातियों का चित्र-संचालनात्मक खेल।

इस प्रकार पुत्तलिका-कौतुक को ही हम प्रधानता देकर नाटक के खेल का एक पुष्ट प्राचीन रूप मान लेते हैं और यहीं से प्रारम्भ करते हैं। भारत से यह पुत्रिका, पुत्तली या पुत्तलिका का खेल अन्य देशों, जैसे ग्रीस एवं रोम में भी पहुँचा, लैटिन में काष्ट-पुत्तलिका (कठ-पुतली) के लिये "प्यूपा" या "प्यूपुला" शब्द मिलता है जो पुत्तला या पुत्तली से बहुत कुछ मिलता-जुलता तथा उसी से बनाया गया जान पड़ता है। प्राचीन भारत में कपड़ा, ऊन, काष्ट, सींग, हाथी-दांत तथा कुछ धातुओं की भी अच्छी २ पुतलियां बनतीं तथा बाहर भेजी जाती थीं, और चारों ओर विख्यात थीं। इन्हीं से पाषाण एवं धातुओं की मूर्ति-कला के श्रीगणेश होने का अनुमान पुष्टता के साथ किया जा सकता है। अब भी हिन्दुओं के घरों में छोटी २ बालिकायें गुड़ियों का खेल खेला करती हैं, वे उनके विवाहादिक संस्कारों का भी उसी प्रकार के अनुकरण के साथ आयोजन किया करती हैं, जिस प्रकार वास्तव में वे संस्कार घरों में हुआ करते हैं।

इसीलिये हम इस पुत्तली-कौतुक को नाटक के खेल का प्राचीन एवं प्रारंभिक रूप मानते हैं। श्री पार्वती जी का एक पुतली बनाकर मलय पर्वत में रखना और उसे सजाना तथा श्री शिव जी का उसे जाकर सजीव कर देना हमने अपने पुराणों में पढ़ा ही है, यह भी इसकी प्राचीनता का एक प्रमाण है।

महाभारत में भी काठ-पुतलियों के खेल का उल्लेख है, उत्तरा ने अर्जुन से अपनी पुत्तलिकाओं के लिये युद्ध से अच्छे २ वस्त्रों के लाने का अनुरोध किया था। कथा सरित्सागर में (जो गुणाढ्य कविकृत बृहत्कथा का सूक्ष्मरूप है) मयासुर-पुत्री सोमप्रभा ने अपने पिता मय की बनाई हुई कई काठ-पुतलियां रानी कलिंगसेना को दी थीं, ये पुतलियां नाचती, गाती और खेल कूद के अतिरिक्त अन्य कार्य भी मनुष्यों की भांति करती थीं, इसे हम कोरी कवि-कल्पना नहीं मानते क्योंकि वैज्ञानिक लोग ऐसा कर भी सकते हैं।

इसी प्रकार कथा-कोष से भी ज्ञात होता है कि सुन्दर नरेश ने अपने राजकुमार अमर चन्द्र के विवाह में काठ-पुतलियों का खेल कराया था। अस्तु, सारांश एवं तात्पर्य इस सब का यही है कि काठ-पुतलियों एवं पुतलियों (गुड़ियों) का खेल नाटक का प्राचीन एवं पुष्ट प्रारंभिक रूप है। राजशेखर (१० वीं शताब्दी के एक प्रधान कवि एवं काव्याचार्य) ने भी इसी प्रकार अपने बाल रामायण नामी नाटक में विशारद के द्वारा (मया

गुर का शिष्य) बनाई गई संस्कृत एवं प्राकृत में वार्तालाप करने वाली सीता और सिंदूरिका की आकृति वाली काठ-पुतलियों का उल्लेख किया है, अतः स्पष्ट है कि काष्ठ-पुतलियों के कौतुक का भी इतना वैज्ञानिक एवं उत्तम विकास उस समय हो चुका था ।

नाटक में आने वाले 'सूत्रधार' शब्द से भी कुछ यही सूचित होता है कि नाटक-कौतुक का प्रारंभिक एवं प्राचीन रूप यह काष्ठ-पुत्तली-कौतुक ही है । सूत्रधार नाटक के नाम, उसके रचयिता तथा विषय (कथादि) का नाटक के पूर्व आकर पूरा परिचय देता है, यह नाटक का परिचय एवं प्राक्कथन है और प्रथम बहुत विस्तृत रूप में रहता था । अभिनय की प्रधानता विशदता तथा नाट्य-कला के विकास ने इसे सूक्ष्म कर दिया, (अब तो यह भी उठा सा दिया गया है) प्रथम सूत्रधार के बाद स्थापक आकर यह परिचय देता था, फिर सूत्रधार ही को यह सब कार्य सौंप दिया गया और स्थापक नामी एक पात्र की बचत कर ली गई । इन दोनों ही शब्दों से काष्ठपुत्तली-कौतुक का संकेत मिलता है, स्थापक प्रथम वही व्यक्ति कह लाता था जो रंगमंच पर आकर पुतलियों को यथास्थान सुव्यवस्थित एवं सुसज्जित करता था, और सूत्रधार वह व्यक्ति कहा जाता था जो पुतलियों के सूत्र (तागे) को पकड़कर उन्हें अपनी इच्छानुसार नचाता था । "सूत्रं धारयति यः सः सूत्रधारः" यह शब्द-व्याख्या ही इसे पुष्ट करती है । आगे

चलकर कठपुतलियों के स्थान पर नटी का समावेश किया गया, जिनका नियंत्रण सूत्रधार एवं स्थापक के ही हाथ में रहा। नाटक-ग्रंथों से भी सूत्रधार, नट एवं नटी (इससे ज्ञात होता है कि रंगमंच पर स्त्रियों एवं नर्तकियों ने भी भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था, और यह प्रथा बहुत प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हुई थी) आदि के प्रवेश की सूचना दी जाती है।

इस प्रकार सजीव पात्रों के आ जाने पर सूत्रधार रंगशाला का प्रधान व्यवस्थापक हो गया (Stage-manager or chief director) इससे स्पष्ट है कि नाटकों का प्रारम्भ काष्ठ-पुत्तलिका से ही हुआ और फिर क्रमशः उनका विकाश होता आया, चीन देश में तो अद्यावधि नाटक के पूर्व कठ-पुतलियों का खेल होता जाता है।

हमने प्रथम ही इस ओर संकेत कर दिया है कि कठपुतलियों के कौतुक से दो प्रकार के कौतुकों का विकास हुआ है, प्रथम रूप तो इसका यही नाटक-कौतुक है और दूसरा रूप इसका छाया-नाटक (चित्र-नाटक-कौतुक) है। काठ की पुतलियों के स्थान पर चर्मादि की पुतलियां बनाई जाकर पृथक नचाई जाती थीं और उनकी छाया, प्रकाश से प्रकाशित एक परदे पर पड़ती थी और इसी छाया-कौतुक को दर्शक लोग देख पाते थे। इसे हम आधुनिक सिनेमा का मूल रूप कह सकते हैं। इस प्रकार के छाया-कौतुकों के लिये नाटक भी भिन्न प्रकार के स्वतंत्र एवं पृथक रूप में लिखे जाते थे, यथा सुभट कवि

कृत दूतांगद, भवभूतिकृत 'महावीर चरित, एवं जयदेवकृत प्रसन्नराघव आदि। उत्तर रामचरित में भवभूति ने छाया अंक से कदाचित इसी छाया-कौतुक की सूचना दी है। डा० पिशल ने लिखा है कि मध्यकाल में जो कठपुतलियों का तमाशा यूरोप में होता था वह भारत का ही अनुकरण था। जावा द्वीप में भी भारत को ही देखकर ऐसा तमाशा बहुत समय पूर्व से ही हो रहा है। भारत में इसका प्रचार १६ वीं, एवं १७ वीं शताब्दियों तक अच्छे रूप में रहा, अब केवल बहुत ही संकीर्ण एवं न्यून रूप में रह गया है। डा० पिशल ने भारतीय नाटकों का प्रभाव दिखलाते हुये लिखा है कि यूरोपीय नाटकों में क्लाउन (Clown या joker) या मसखरा भारतीय नाटकों के विदूषक का ही अनुकरण है और इस प्रकार आपने यह सूचित किया है कि नाट्य-कला एवं नाटक-रचना सब से प्रथम भारत में ही प्रारम्भ हुई है, और यहीं से अन्य देशों में इसका प्रचार हुआ है, यह बात सर्वथा ही सत्य ठहरती है, क्योंकि भारत ने ही प्रायः सभी कलाओं एवं विद्याओं का आविष्कार करके अन्य सब देशों को सिखलाया है।

नाटक पर भारतीय किम्वदन्तियाँ

अब हम अपने यहां की नाटक सम्बन्धी किम्वदंतियों को भी यहां सूक्ष्म रूप में इसलिये दे देना चाहते हैं कि नाटकों को कदाचित उनसे भी कुछ सामग्री प्राप्त हो जावे। यथा अन्य विद्याओं एवं कलाओं आदि के विषय में कहा गया है तथैव

नाटक के विषय में भी हमारे विद्वानों का यही कहना है कि नाटक दैवी है अर्थात् उसका प्रारम्भ या आविष्कार देवताओं ने ही किया था, और उसके मूल तत्वों को वेद रूपी ज्ञाना-गार में रक्षित रक्खा था।

भारतीय मत है कि सत्युग में चूंकि चारो ओर संसार सुख और शान्ति का ही पूर्ण साम्राज्य था इसलिये मनुष्यों को आनन्द एवं विनोदादि के लिये किसी प्रकार के कौतुकों आदि के साधनों की आवश्यकता ही न थी, इसीलिये नाट-कादिक मनोरंजक साधनों का कार्य त्रेतायुग के लिये पड़ा रहा। त्रेतायुग में ही देवताओं की विनय से ब्रह्मा (प्रजा-पति) जी ने मन, नेत्रों और कानों तीनों को आनन्द देने वाले एक साधन विशेष (नाट्य-शास्त्र) की रचना पंचमवेद के रूप में करके उससे सभी जातियों के आनन्द प्राप्त करने का विधान बना दिया। इसमें इतिहास से आदर्शों एवं उपदेशों के आधार पर कौतुक करने की व्यवस्था रक्खी गई और इसीलिये उन्होंने इसमें चारों वेदों से मूल तत्वों को लेकर स्थापित या एकत्रित करके नाटक के रूप में रख दिया। ऋग्वेद से कथानक एवं कथोपकथन (संवाद), यजुर्वेद से अभिनय (नाट्य), सामवेद से संगीत एवं नृत्य तथा अथर्व वेद से रस एवं भावादि लिये गये। ब्रह्माजी की आज्ञा से विश्वकर्मा ने एक सुन्दर रंगशाला की रचना की और उसी में श्री भरत मुनि के नियंत्रण से (क्योंकि उन्हें ही ब्रह्माजी नाट्य कला एवं नाटक-रचना-विधान

का ज्ञान देकर यह कार्य सौंप चुके थे) नाटक-कौतुक किया गया, जिसमें सभी प्रधान प्रधान देवताओं ने भाग लिया, शंकर जी ने (तीव्र भावोंसे उक्त) तांडव नृत्य से, श्री उमा जी ने लास्य नृत्य से (मृदुल भावोंसे जन) और विष्णु जी ने नाट्य एवं नाटकीय शैलियों से उसे सुशोभित किया।

श्री भरत मुनि को फिर इस नवीन विनोदकारी आविष्कार के पृथ्वी पर प्रचार करने का कार्य सौंपा गया, और उन्होंने नाट्य-शास्त्र की रचना करके अपना यह कर्तव्य पूर्ण किया।

यह भी प्रसिद्ध है कि इतिहास-ग्रंथ को पंचम वेद की संज्ञा दी गई है, नाटक ने भी इतिहास को अपना आधार बनाकर नृत्यवेद के रूप में उसी क्षमता का अधिकार प्राप्त कर लिया, हां, यह अवश्य हुआ कि उसे उतना उच्च स्थान न प्राप्त हो सका, यद्यपि इसने इतिहास तथा गन्धर्ववेद (संगीतशास्त्र) को अपना प्रधान अंग बना लिया। साहित्य-क्षेत्र में इसकी प्रधानता अवश्य ही सर्वोपरि हो गई क्योंकि इसमें गद्य, पद्य (काव्य) संगीत, नृत्य, इतिहास एवं अभिनय आदि के द्वारा मनोविज्ञान के भी मुख्य तत्व सन्निहित किये गये थे। इस कथा को हम नाट्य-शास्त्र से प्राचीन नहीं कह सकते, और नाट्य-शास्त्र का समय, यद्यपि वह सप्रमाण होकर पूर्णतया निश्चित नहीं है, ईसा की ३री शताब्दी में माना जाता है।

इस कथा से हमें यही एक तत्व की बात प्राप्त होती है कि नाटक के मूल तत्व वेदों से ही लिये गये हैं। हम जानते हैं

कि नाटक के मूल तत्वों में से प्रधान तत्व कथोपकथन या वार्तालाप है। अस्तु, यदि हम ऋग्वेद को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें वार्तालाप का रूप विद्यमान है और यह सम्भव हो सकता है कि उसी का अनुकरण करके नाटक में कथोपकथन का विधान किया गया हो। इसीके साथ हम यह भी कह सकते हैं कि यह वैदिक वार्तालाप कदाचित काव्य (वार्ता-काव्य या Poetic dialogue) का ही एक रूप रहा हो और उसकी शैली को काव्य के क्षेत्र से पृथक करके नाटक में ही प्रचलित कर दिया गया हो। यह वार्तालाप एक विशेषता यह रखता है कि इसमें कुछ छंदवत्ता या पद्यवत्ता सी रहती है, और यह शुद्ध गद्य के रूप में नहीं रहता। नाटकों में भी प्रायः कथोपकथन का यही पद्यात्मक रूप होना चाहिये। कहीं कहीं काव्य में भी पद्यात्मक वार्तालाप हमें प्राप्त होता है यथा :—

" राजन्नभ्युदयोऽस्तु, शकरकवे ! किम्पत्रिकायामिदम् ।
पद्यं, कस्य, तवैव भोजनृपते ! पापठ्यतां, पठ्यते।"

नाटकों में भी इस प्रकार का छंदात्मक वार्तालाप कहीं २ प्राप्त होता है। यह हो सकता है कि प्रथम नाटकीय वार्तालाप इसी रूप में रक्खा गया हो और फिर उसे गद्य का रूप विकास-काल में दे दिया गया हो, क्योंकि प्राचीन काल में पद्य का ही पूर्ण प्राधान्य प्राप्त होता है। यह भी हो सकता है कि काव्य से नाटक को पृथक करने के लिये उसमें गद्य का स्थान प्रथम

ही में प्रधानता के साथ रक्खा गया हो।

इतना तो अवश्य ही कहना चाहिये कि वार्तालाप का समावेश नाटक में ऋग्वेद के ही अनुकरण से हुआ है। ऋग्वेद के वार्तालापात्मक मंत्रों से यह भी प्रगट होता है कि यह वार्तालाप उन पुजारियों या देवोपासकों के द्वारा धार्मिक उत्सवों पर किया जाता था, जो कदाचित अपने को उन देवताओं का स्थानापन्न बना लेते थे जिनका मध्यगत वार्तालाप मंत्रों में दिया गया है, इस प्रकार इससे अभिनय की भी सूचना प्राप्त हो जाती है। नाटकों में वार्तालाप को गद्य का रूप कदाचित इसीलिये दिया गया हो चूंकि काव्य में भी वार्तालाप पाया जाता था।

वेद-विहित सोमयज्ञ के कुछ विधानों या कृत्यों से इस बात की ओर भी कुछ संकेत मिलता है कि उनमें नाटकीय अभिनय का मूल रूप विद्यमान है, सम्भवतः इसी के आधार पर नाटक में अभिनय के विधान का विकास किया गया है। किन्तु यहां यह अभिनय सर्वथा धार्मिक रूप या दृष्टि में ही रहता है, नाटक के समान मनोविनोद के लिये यह नहीं रहता।

भारतीय नाटकों में नृत्य और संगीत का स्थान सदा ही से प्रधान रूप में चला आया है। इनको हम सामवेद में अवश्य-मेव पवित्र धार्मिक नृत्य-गान के रूप में देख सकते हैं, अत

यह हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि ये दोनों बातें नाटक में वेद से ही आई हैं।

यह होते हुये भी हमें इसका प्रमाण नहीं मिलता कि उक्त सब तत्वों का संश्लेषण या एकत्रीकरण तथा कथानक का विकास-विधान (Development of plot) जो नाटक का सब से प्रधान तत्व है, वैदिक काल में ही हो चुका था। इनके साथ साहित्यिक नाटकों का विधान पौराणिक काल में पुरा-णेतिहास के ही आधार पर हुआ है, यह हम अवश्यमेव कह सकते हैं।

यह देखने में अवश्य आता है कि संस्कृत-साहित्य के नाटकों में नृत्य एवं गान का वैसा प्राधान्य नहीं, जैसा कि उक्त सिद्धान्त से प्रकट होता है। इस सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि कदाचित साहित्यिक नाटक उन नाटकों से, जो रंगमंच पर खेले जाते थे, पृथक रक्खे जाते रहे हों, और केवल पढ़ने या सुनने के लिये ही रचे जाते रहे हों, अथवा यदि उन्हें कहीं खेलते भी थे तो केवल अत्यंत उच्चकोटि की सभ्य एवं सुपठित समाज के ही सामने, किन्तु कतिपय संस्कृत नाटक ऐसे भी हैं जिन्हें रंग-मंच पर पूर्ण सफलता के साथ नहीं खेल सकते, इससे यही कहा जा सकता है कि ये साहित्यिक नाटक खेले जाने वाले नाटकों से पृथक ही रक्खे जाते थे और इनकी गणना काव्य-साहित्य में ही होती थी, जिसके ही कारण से ये अबतक हमें साहित्यिक

विद्वानों के द्वारा रक्षित रक्खे जाकर प्राप्त हो रहे हैं और खेले जाने वाले नाटकों के समान देश एवं समाज की स्थिति एवं भाषा में परिवर्तन हो जाने से नष्ट नहीं हो सके। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि नाटक दो प्रकार के होते थे :—१ साहित्यिक नाटक जो काव्य के रूप में रचे जाते थे और जिन्हें लोग पढ़ते या सुनते ही थे, रंगमंच पर खेलते न थे। २—शुद्ध नाटक :—जो साधारण काव्य के रूप में साधारण भाषा में लिखे जाकर रंगमंच पर खेले जाते थे।

नाटकों में संगीत का अभाव यह भी सूचित करता है कि या तो नाटकों के विकास-काल में संगीत को नाटकों से उसी प्रकार पृथक कर दिया गया था जिस प्रकार उसे काव्य से, या ये नाटक जिनमें संगीत का अभाव रहता था, खेले न जाकर पुराणेतिहास ग्रंथों के समान केवल पढ़े ही जाते थे। यह जनता के सामने पठन-प्रणाली प्राचीनतर ही है क्योंकि इसका प्रमाण हमें ग्रंथक लोगों की परम्परा से प्राप्त भी होता है।

इसी प्रणाली के अनुसार कदाचित नाटक को प्रथम यह रूप प्राप्त हुआ जिसमें पात्र केवल स्वांग ही बना लेते हैं और अभिनय एवं वार्तालापादि नहीं करते, वरन् उनकी ओर से एक विशेष व्यक्ति पुस्तक से उनके वाक्य पढ़कर सुनाता जाता है। इस प्रकार की लीला हमारे यहां अब तक देखने में आती है। कुछ समय के पश्चात ही पात्रों ने अपने वाक्यों का

अपने ही मुखों से कहना तथा आवश्यकोचित अभिनय भी करना प्रारम्भ किया होगा। अस्तु, अब हम आगे चलते हैं।

वेद के पश्चात हमें संस्कृत-साहित्य में सबसे प्रधान दो ग्रंथ प्राप्त हैं १—महाभारत २—रामायण। हम महाभारत में नट शब्द अवश्य पाते हैं किन्तु यह निश्चित नहीं कि उसका अर्थ नाटकीय नट का है या केवल स्वांग बनाने एवं नृत्य करने वाले का। उसमें हमें विदूषक जैसे पात्र का भी परिचय नहीं मिलता। हां हरिवंश पुराण में अवश्य ही (जो महाभारत के थोड़े ही समय पश्चात बना था) यह मिलता है कि राजा वज्र नाम के नगर में कौबेरंभाभिसार नामी नाटक खेला गया था जिसमें प्रद्युम्न ने तो नलकूबर का, शूर ने रावण का, सांब ने विदूषक का, गद ने पारिपार्श्वक का और मनोवती ने रंभा का अभिनय किया था। इससे ज्ञान पड़ता है कि श्रीकृष्ण के समय में भी नाट्य-कौतुक एवं नाटक-रचना अपनी अच्छी उन्नत दशा में थी. यहां तक कि उक्त नाटक में कैलाश का दृश्य, तथा आकाश-मार्ग से चलना आदि भी दिखलाया गया था। श्रीभद्र स्वामी ने (जो महावीर स्वामी से लगभग दो सौ या सवा दो सौ वर्ष पीछे हुये हैं) अपने कल्प-सूत्र में एक कथा लिख कर साधुओं के लिये नाटक के (चाहे वह नटी का हो या नटियों का) देखने का निषेध किया है, इससे यह ज्ञात होता है कि ईसा से लगभग डेढ़ या दो हज़ार वर्ष पूर्व भी यहां नाटक-कौतुक उन्नत दशा में था।

अब यदि रामायण में देखा जाये तो ज्ञात होता है कि उसमें भी नाटक के विषय पर कुछ पूर्ण प्रकाश नहीं डाला गया, हां, केवल एक या दो स्थानों में ही ऐसे उत्सवों की सूक्ष्म चर्चा है जिनमें नट एवं नर्तक मनोविनोद करते हुये पाये जाते हैं, व्यामिश्रक-शब्द जो यहां प्राप्त होता है निश्चित रूप से नाटक-सम्बन्धी पात्र विशेष का द्योतक नहीं जान पड़ता।

रामायण से यह अवश्य ज्ञात होता है कि उस समय में एक जाति ऐसी थी जो रामायण का गान किया करती थी और उसकी कथा कहा करती थी और इसीलिये कथक (कथा कहने वाली) कहलाती थी।

ये पृथक लोग रामायण-गान के साथ कथा भी सुनाते हुये आंगिक भाव-भंगिमा के द्वारा रसों का प्रकाशन भी करते थे, और कभी कभी नाचते भी थे। यह अवश्य था कि ऐसा करते हुये भी ये लोग वार्तालाप को प्रधानता न दिया करते थे। फिर भी इनकी इस पद्धति में नाटक के मूल एवं मुख्य तत्व अवश्य पाये जाते हैं और हम कह सकते हैं कि इनको नाटक का पूर्व रूप अवश्य ज्ञात था।

दूसरा शब्द जो रामायण में पाया जाता है और नाटक से सम्बन्ध रखता हुआ नाट्य-कला की ओर संकेत करता है, कुशीलव है। यह शब्द कदाचित (जैसा पाश्चात्य लोगों का मत है) कुश और लव से बना है, कुश और लव का उल्लेख रामायण में पाया जाता है, इन्हें रामायण-गान की शिक्षा दी

गई थी और उसमें वे परम दक्ष माने जाते थे। कुशीलव शब्द का प्रयोग नाटकों में पात्रों के अर्थ में होता है ? अस्तु हम कह सकते हैं कि हमें रामायण एवं महाभारत आदि ऐतिहासिक ग्रंथों से नाटक के विषय की खोज में कोई विशेष सहायता नहीं प्राप्त होती। अतएव अब हम संस्कृत-साहित्य के दूसरे विभागों में खोज करते हैं।

व्याकरण तथा नाट्य-शास्त्र

हम प्रथम ही लिख चुके हैं कि पाणिनि ने (४०० वर्ष पू० ई०) अपने विश्व-विख्यात संस्कृत-व्याकरण के अद्वितीय महाग्रंथ "अष्टाध्यायी" में नाट्य-शास्त्र और उसके दो आचार्यों (शिलालिन एवं कृशाश्व) का उल्लेख किया है, इससे स्पष्ट है कि पाणिनि एवं उक्त दो नाट्य-शास्त्राचार्यों के समय में नाट्य-कला एवं नाटक-रचना इतनी उन्नति को प्राप्त हो चुकी थी कि उस पर शास्त्रीय ढंग से लक्षण एवं व्यवस्थात्मक विवेचना के ग्रंथ भी बन चुके थे।

महर्षि पतञ्जलि ने, जो व्याकरण शास्त्र के अप्रतिम आचार्य एवं उसे तर्कात्मक रूप देने में एक ही हैं, अपने विश्व-विख्यात अमर महाग्रंथ "महाभाष्य" में भगवान पाणिनि के सूत्रों पर भाष्य करते हुये (लगभग २०० वर्ष पू० ई०) विगत कार्यों

के लिये वर्तमान काल का प्रयोग करने के लिये नाटकीय अभिनय के आधार पर नाटक-लेखक या कवि को सही बतलाते हैं।

आप यह सूचित करते हैं कि नाटक में भूत काल के स्थान पर वर्तमान काल का प्रयोग इसीलिये होना उचित है चूंकि उन विगत कार्यों का प्रत्यक्ष प्रदर्शन (अभिनय रूप में ही सही) हमारे सामने ही वर्तमान समय में हो रहा है। *उन्होंने शोभनिकों के द्वारा खेले जाने वाले कंसवध और* बालिवध नामी नाटकों का उल्लेख किया है। साथ ही आप चित्रकारों के द्वारा चित्रित किये गये जीवन-चरित्रों का भी उल्लेख करते हैं, इससे यह भी संकेत मिलता है कि उस समय चित्रकारों के द्वारा दृश्यादि से चित्रित परदे भी नाटकों में आने लगे थे। इनके द्वारा भी विगत बातों में वर्तमानत्व का आना सिद्ध किया गया है, क्योंकि चित्र-प्रदर्शक चित्रों को दिखलाता हुआ और खेल करता हुआ कौतुककार वर्तमान काल का ही प्रयोग करता है।

इसी प्रकार शोभनिकों के समान ग्रंथकों का भी उल्लेख पाया जाता है। ये लोग स्वांग या रूप धारण कर वार्तालाप के साथ नाटकीय अभिनय भी किया करते थे। यदि एक कंस का रूप कालिमा लगाकर बनाता था तो दूसरा लाल रंग से कृष्ण बन कर आवश्यक वार्तालाप के साथ कंस-वध का अभिनय करता था। अब इससे स्पष्ट है कि महाभाष्य के

रचना-काल में नाटक अपने सभी अंगों के साथ पूर्णोदय से विद्यमान था। साथ ही उसके भिन्न २ रूप भी न्यूनाधिक अंशों में विकसित होकर उस समय पाये जाते थे। यथा, अभिनय-प्रधान मूक-नाटक, कथोपकथन युक्त चित्र-प्रदर्शन एवं सवार्तालाप नाट्य, अभिनयकारी नटों का संगीत और पूर्ण नाटक आदि। इस समय से आगे नाटक-कौतुक का पूर्ण विकास हो चला और साथ ही नाटक-रचना का भी विकास-प्रकाश होता गया। अस्तु, अब हम यहाँ भारतीय नाटकों के प्रारम्भ एवं विकास के भिन्न २ मतों एवं सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन भी कर देना उचित समझते हैं, जिससे पाठक स्वतः देख लें कि कौन सा मत विशेष माननीय एवं पुष्ट है।

मि० रिजवे का मत

डा० रिजवे ने अपने एक बड़े लेख में इस बात के सिद्ध करने का अच्छा प्रयत्न किया है कि भारत एवं संसार के प्रायः सभी देशों में नाटकों का प्रारम्भ धार्मिक उत्सवों एवं अवसरों से ही हुआ है।

मृत आत्माओं को सम्मानित करने तथा उनकी स्मृति के जागृत रखने का भाव ही इनका मूल कारण या बीज है। मृत आत्माओं को प्रसन्न करके अपने हित की कामना को फलीभूत करना ही इनका मूल उद्देश्य या लक्ष्य ज्ञात होता है। इस पर

प्रकाश डालते हुये आपने यह भी दिखलाया है कि राम, कृ
तथा शिव आदि देवताओं का प्रारम्भ एवं प्राचीन काल
मनुष्य माना जाता और फिर इनमें देवत्व की सत्ता व मह
का आरोपण करके अवतार मानना इस बात को पुष्ट करना
इसी प्रकार प्राय अन्य देवताओं एवं देवोपम महापुरुषों
लिये भी कहा जा सकता है।

आपने अपने कथन के प्रमाण में यह दिखलाया है
आज भी (प्राचीन काल से लेकर अब तक भी) मानव
श्रीराम और श्रीकृष्ण के चरित्रों पर प्रकाश डालने वाले ना
सर्व साधारण एवं व्यापक रूप में लेखे और रचे जाते
साथ ही आपने यह भी लिखा है कि इसी प्रकार अन्य ऐ
हासिक वीर पुरुषों एवं सम्राटों के नाटक लिखे एवं रचे
हैं। हाँ आपके निबंध में कहीं भी इस बात को पुष्ट क
वाला कोई भी सुदृढ़ एवं अकाट्य प्रमाण ऐसा नहीं मि
जिससे यह सिद्ध हो कि नाटकों का उद्देश्य कभी मृतात्म
को प्रसन्न करना ही था। श्रीराम एवं कृष्ण के संबन्ध
यह किसी भी प्रकार चरितार्थ ही नहीं होता क्योंकि वे न
के विकास के बहुत समय पूर्व से ही अवतार रूप में
जाते थे, और उनके लिये नाटक जैसी प्रमोद-प्रदायिनी
की आवश्यकता ही न थी, वे नाटक से प्रसन्न हो सकते
कदापि नहीं कहा गया, हाँ भक्ति एवं प्रेम के द्वारा
प्रसन्न किया जाना हमारे प्राचीन ग्रंथों-रामायण एवं भ
तादि में मिलता है।

यहाँ तो यही कहा जा सकता है कि भारत में नाटकों का प्रारम्भ मृतक-संस्कारों के आधार पर कदापि नहीं हुआ, जैसा रिजवे साहब ने अन्य देशों के नाटकों के सम्बन्ध में कहा है। यही बात यूनान देश के नाटकों के भी विषय में कही जा सकती है, क्योंकि वहाँ के नाटकों में भारतीय नाटकों के साथ बहुत बड़ी समानता है और भारतीय परंपरा इसे भली प्रकार सिद्ध भी करती है।

अस्तु, हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि रिजवे साहब का मत सर्वांग शुद्ध एवं प्रमाण-पुष्ट न होकर पूर्णरूपेण मान्य नहीं जान पड़ता, उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया है कि उनका जो सिद्धान्त अन्य देशीय नाटकों की उत्पत्ति आदि के विषय पर है वही भारतीय नाटकों के भी प्रारम्भ एवं विकास आदि पर चरितार्थ होता है, किन्तु ऐसा करने में वे भ्रम-वश भूल गये हैं और इसीसे उनका मत पुष्ट नहीं हो सका। अस्तु, जहाँ तक हम समझते हैं यहाँ (भारत में) नाटकों के मुख्य उद्देश्य प्रथम ३ ही थे:—१—आमोद-प्रमोद प्राप्त करना २—पूर्व पुरुषों की स्मृति को पुनर्जीवित करना तथा उनके कार्यादि का अनुकरण या अभिनय करके एक प्रकार से प्रत्यक्षीभूत करना तथा उसके द्वारा उपदेश ग्रहण करना एवं उनके आदर्श कार्यों से शिक्षायें निकाल कर उनका प्रचार करना ३—गद्य-पद्य-पूर्ण साहित्यिक काव्य का ऐसा आनन्द प्राप्त करना जिसका सम्बन्ध नेत्रों, कानों एवं मन तीनों इंद्रियों

से है, और जिससे अभिनय का भी अनुभव हो सके। इसी लिये इसे दृश्य-काव्य की संज्ञा भी हमारे आचार्यों ने दी थी।

मनोविनोद के प्राप्त करने का उद्देश्य हमारे भारतीय नाटकों में सब से प्रधान है और इसी लिये हमारे यहाँ के नाटक सदा सुखान्त ही रक्खे जाते हैं। इसी के साथ उनका दूसरा मुख्य उद्देश्य एक आदर्श चरित्र का चित्रण करना भी है, न कि संसार में प्राप्त होने वाले जीवन के सभी रूपों का यथावत चित्रण करना है। यही बात है कि हमारे नाटकों में आदर्शवाद की पुट विशेष एवं प्राधान्य है, और उसी के साथ सच्चरित्रता के चित्रण का भी प्राधान्य है। यह बात अन्य देशों के नाटकों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती और न यह उनपर पूर्णतया घटित ही होती है।

अनुकरणात्मक मत

दूसरे के व्यापारों का अनुकरण करना ही नाटकों की उत्पत्ति का कारण है, यह सिद्धान्त भी भारतीय नाटकों के प्रारम्भ या श्रीगणेश पर पूर्णरूप से नहीं घटित होता। साधारण अनुकरण के कौतुकों के विषय को पुष्ट करने वाला कोई भी अच्छा प्रमाण हमें उपलब्ध नहीं है। यह अवश्य है कि मनुष्य की अनुकरणकारिणी प्रवृत्ति (मनोवृत्ति) का कुछ अंश इसमें

अपना प्रभाव अवश्य रखता है किन्तु यही इसका एकमात्र कारण हो यह भी बात नहीं, क्योंकि भारतीय नाटकों में अभिनय (अनुकरण प्रधान) का तत्त्व ही सब कुछ नहीं है और न वह इतना प्रधान ही है जितना कि संगीत, नृत्य एवं आदर्शादि के तत्त्व प्रधान हैं। अस्तु, कुछ विद्वानों का मत इसे मुख्य कारण माननेवाले मत से विरुद्ध है।

इसी प्रकार अन्य विद्वान इस मत के भी मानने में अपनी असमर्थना प्रगट करते हैं, कि नाटकों की उत्पत्ति भारत में पुत्तलिका-कौतुक से ही हुई है। उनका कहना है कि इसका कोई अकाट्य एवं सुदृढ़ प्रमाण नहीं पाया जाता। केवल इसका अनुमान अवश्यमेव किया जा सकता एवं जाता है।

हां, यह सम्भव हो सकता है कि पुत्तलिका-कौतुक को देखकर नाटकाभिनय का भाव लोगों के हृदय में जागृत हुआ हो, और उन्होंने उसी के आधार पर नाटक का प्रारंभ एवं विकास किसी अंश तक किया हो, किन्तु यह बात केवल एक संभाव्य कल्पना ही सी होगी, और सुदृढ़ प्रमाण के रूप में कदापि न ली जा सकेगी। ऐसा इस मत के विरोध में कहते हुये विद्वानों का मत कुछ दूर तक ऐसा अवश्य है कि यदि पुत्तलिका-कौतुक और छायाचित्र-कौतुक-नाटकों के प्रारम्भ एवं विकास के मुख्य कारण नहीं, तो ये उनसे सम्बन्ध अवश्य रखते हैं और इन्होंने अपना अच्छा प्रभाव नाटकों पर डाला अवश्य है।

कुछ लोगों ने "रूपक" शब्द के आधार पर, जो नाटक का पर्यायवाची शब्द सा है, यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि छायाबिम्ब-कौतुक ही नाटकों की उत्पत्ति का मुख्य कारण है, क्योंकि रूपक शब्द अपने अर्थ से इसकी ओर संकेत सा करता है, किन्तु यह विचार भी मान्य नहीं ठहरता, जब हम रूपक शब्द की व्युत्पत्ति "रूपं करोति यस्मिन् तत् रूपकम्" या " रूपारोपात्तु रूपकम् " अर्थात् जिसमें रूप बनाया जावे, यों करते हैं।

"सूत्रधार एवं स्थापक" शब्दों के आधार पर पुत्तलिका-कौतुक को नाटकों की उत्पत्ति का मुख्य कारण माननेवालों के विरोधी विद्वानों का कथन है कि सूत्रधार शब्द में सूत्र शब्द अनिवार्य एवं आवश्यक रूप से तागे, या डोरे (रस्सी) आदि का ही अर्थ नहीं रखता, (यह अर्थ यद्यपि इस शब्द का कहीं कहीं लिया अवश्य जाता है और यह शब्द इस अर्थ का द्योतक है अवश्य) क्योंकि सर्वत्र ही इस शब्द से ऐसा अर्थ नहीं लिया जाता। व्याकरण आदि शास्त्रों में भी सूत्र शब्द का प्रयोग होता है, और मुख्य या मूल तत्व के ही अर्थ में, न कि तागे के अर्थ में। इसी प्रकार सूत्रधार शब्द में भी इस सूत्र शब्द का अर्थ है "मुख्य वस्तु" और पूर्ण शब्द का भाव है, मुख्य वस्तु (कथा-वस्तु-सूच्यार्थ एवं लाक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ के द्वारा) का धारण करने वाला, अर्थात् नाटक की मुख्य-कथा-वस्तु का ज्ञान रखने या समझने वाला, प्रधान पात्र या नट, जो नाटक का नियंत्रण करता है

क्योंकि यह सम्पूर्ण नाटक का रहस्य एवं मर्म जानता है। इसी प्रकार "स्थापक" शब्द का भी अर्थ नाटक में होता है उस व्यक्ति का जो नाटक की स्थापना करे अर्थात् जो नाटक के दृश्यादि-सूचक विधानों का प्रबंध करके पात्रों को यथा समय एवं यथास्थान यथोचित रीति से व्यवस्थित करने का विधान विधि-पूर्वक करे। ये दोनों शब्द यहां अपने मूल अर्थ में न प्रयुक्त होकर केवल व्यंग्य पदों के ही रूप में सूच्य या लाक्षित अर्थों के प्रगट करने के लिये प्रयुक्त होते हैं।

अस्तु, इन शब्दों के भी आधार पर निश्चय पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि नाटक की उत्पत्ति का मुख्य कारण काष्ट-पुत्तलिका का कौतुक एवं छाया चित्र-कौतुक ही है। हां, यह भले ही कुछ दूर तक कहा जा सकता है कि नाटक की उत्पत्ति आदि पर इनका प्रभाव अवश्य पड़ा है, चाहे वह न्यून रूप में हो या अधिक रूप में।

निदान हम अब निष्कर्ष रूप में यह अवश्य कह सकते हैं कि नाटक के प्रारम्भ एवं विकास में उक्त सभी तत्वों का समावेश कारण रूप में हुआ है, कोई भी एक तत्व अकेला मुख्य कारण नहीं है। सभी ने अपना २ प्रभाव प्रकट करते हुए नाटक को विकसित किया है, और सभी के अंश उसमें न्यूनाधिक मात्राओं से उपस्थित जान पड़ते हैं। निश्चय रूप से यह कहना कि अमुक तत्व ही नाटक के प्रारम्भ का हेतु

है सर्वथा अप्रमाणित एवं अमाननीय है, यदि पूर्णतया यह अशुद्ध नहीं तो बहुत अंश में संदिग्ध तो अवश्य ही है। अस्तु, यह अवश्यमेव बहुत कठिन एवं एक प्रकार से असाध्य ही सा है कि नाटक-कौतुक एवं नाट्य शास्त्र के प्रारम्भ एवं श्रीगणेश के विषय पर कुछ बात निश्चय रूप से कही जावे। नाटक-कौतुक के प्रारम्भिक रूप को चित्रित करने के लिये उक्त अनुमानों का उपयोग किया जाता है अवश्य, किन्तु हम उनमें से किसी को भी पूर्ण रूप से प्रमाण-पुष्ट नहीं मान सकते। अब हम नाट्य-शास्त्र के भी विषय में कुछ आवश्यक एवं मुख्य बातें यहां सूक्ष्म रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित किये देते हैं।

यह हम दिखला ही चुके हैं कि नाट्यशास्त्र का सब से प्रारम्भिक एवं प्राचीन ग्रंथ जो हमें अब भी उपलब्ध है श्री भरत मुनि का ही रचा हुआ है। इसमें नाट्य-नियमोपनियमों का विशद विधान बनाया गया है और पूर्ण वैज्ञानिक रीति तथा शास्त्रीय-पद्धति से यह सुव्यवस्थित किया गया है।

इससे यह स्पष्ट है कि भरत मुनि के इस नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व ही यहाँ नाट्यकला तथा नाटक ग्रंथों का अच्छा एवं पूर्ण विकाश-प्रकाश हो चुका था, क्योंकि यह एक स्वतः सिद्ध बात है कि प्रथम नाटक ग्रंथ बने होंगे तब कहीं उनके आधार पर नाट्यशास्त्र के नियमोपनियमों का विधान बनाया गया । कला और शास्त्र की रचनाओं का यही क्रम उपयुक्त

एवं स्वाभाविक ठहरता है। अब इस आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि भारत में नाटकों का प्रचार नाट्यशास्त्र से कई शताब्दी पहिले ही प्रारम्भ हुआ था, नाट्यशास्त्र के समय में तो नाटक अपनी पर्याप्त उन्नत एवं विकसित दशा में आ चुके थे।

नाट्यशास्त्र को ही अब हम नाटक तथा साहित्य का सब से प्राचीन एवं प्रथम लक्षण-ग्रंथ मानते हैं, क्योंकि हमारे लिये वह तब तक अवश्य ही इस रूप में है, जब तक हमें उससे पूर्व का कोई अन्य ग्रंथ नहीं प्राप्त हो जाता। हाँ, यह अवश्य है कि भरत मुनि ने अपने इस नाट्यशास्त्र में उन ग्रंथों की ओर संकेत किया है जो उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने बनाये थे। उन्होंने कतिपय प्राचीन सूत्रों का, उनकी कारिकाओं, उनके भाष्य, निघंटु और निरुक्त के साथ उद्धरण भी किया है, जिससे ज्ञात होता है कि उनके पूर्व भी न केवल नाट्य-नियमों के सद्ग्रंथ बन ही चुके थे वरन् उन सूत्रग्रंथों पर भाष्यादि भी लिखे जा चुके थे, और इन सब कार्य के होने में कई शताब्दियाँ लग गई थीं।

नाट्यशास्त्र की जब रचना हो चुकी तब उन ग्रंथों का प्रचार धीरे धीरे कम होता गया और अब उनका पता भी नहीं लगता, कारण इसका कदाचित यही था कि भरतमुनि का यह ग्रंथ सर्वांगपूर्ण एवं सांगोपांग रूप में होकर सब मतों का भी बोध करा देता था।

नाट्यशास्त्र में नाटक-रचना के विविध विधानों एवं नियमों के अतिरिक्त, नाटकशालाओं या रंगशालाओं के भेद, रचना-विधान, एवं उपयोग आदि, उनके पात्रों के गुणों, जातियों एवं कर्तव्य-कर्मों, नृत्य वाद्य आदि की सभी आवश्यक बातों, पात्रों के वेष भूषा, रूप-परिवर्तन के साधनों (रंगादिकों) नाटकों की रीतियों, भाषाओं तथा वस्त्र, चित्रादि की सजावटों का बड़ा ही विवेचनात्मक वर्णन किया गया है। इन सब बातों के देखने से यह सिद्ध हो जाता है कि भरत मुनि के समय में नाटक-कला तथा नाटक-रचना आदि की अच्छी उन्नत दशा थी। और इस उन्नति के होने में कई शताब्दियाँ लग चुकी थीं। नाट्यशास्त्र में जिन जातियों के नाम आये हैं वे भी बहुत प्राचीन जातियाँ हैं, और उनका उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों में भी पाया जाता है। कुछ देशों के प्राचीन नाम, तथा कुछ ऐसे देशों एवं नगरों के भी नाम मिलते हैं जो अब परिवर्तित और रूपान्तरित होकर लुप्त या गुप्त हो गये हैं।

नाट्यशास्त्र की प्राचीनता हमारे देश के कतिपय प्राचीन प्रेक्षागृह (Drama-houses) या रंगशालायें (Theatrical halls) जो पर्वतों की गुफाओं में बनाये गये थे, सिद्ध करते हैं। रामगढ़ (सरगुजा रियासत में) की एक गुफा में ऐसा ही एक अति प्राचीन (लगभग ३०० वर्ष पूर्व ईसा) प्रेक्षागृह है जो ठीक उसी प्रकार बना है जिस प्रकार भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में निर्देश किया है। इसका निर्माण गुन-

नुका नामी एक देव-दासी ने नर्तकियों के लिये कराया था। यह एक पार्श्ववर्ती द्वितीय गुफा के अशोक लिपि में लिखे हुये एक शिला-लेख से ज्ञात होता है। इस प्रेक्षागृह पर यूनानी-कला का भी प्रभाव प्रतिभात होता है। इससे ज्ञात होता है कि यूनानी लोगों ने यहाँ आकर यहाँ की नाटक-कला पर अपना कुछ प्रभाव डाला था और यहाँ के नाटक-विधान से स्वतः भी प्रभावित हुये थे। यूनान का इतिहास बतलाता है कि यूनान देश में ईसवी शताब्दी से लगभग ६०० वर्ष पूर्व नाटकों का प्रारम्भ हुआ था, किन्तु भारतीय नाट्यशास्त्र से यह सिद्ध होता है कि इसी समय में भारतीय नाटक अपनी उन्नत एवं विकसित दशा को प्राप्त हो चुके थे। नाटक-कला तथा नाट्य-शास्त्र पर कई लक्षण ग्रंथ, जिनमें नाटक-सम्बन्धी नियमोपनियमों का वैज्ञानिक विवेचन भी किया गया था, बन चुके थे। अतः सिद्ध है कि नाट्यकला तथा नाट्यशास्त्र का प्रारंभ सर्व प्रथम भारत में ही हुआ था और अन्य देशों में इसके प्रारम्भ के पूर्व ही यहाँ उनको अच्छी उन्नति एवं प्रौढ़ विकास प्राप्त हो चुका था। अस्तु, अब हम यहाँ भारतीय नाटक-पद्धति पर उस यूनानी प्रभाव का भी कुछ सूक्ष्म निदर्शन करा देते हैं; जिसकी सूचना उक्त पंक्तियों में दी गई है।

———

भारतीय नाटकों पर यूनानी प्रभाव

मिस्टर वीवर साहब का विचार है कि भारत में संस्कृत नाटकों का उत्थान एवं विकास ग्रीक लोगों के प्रभाव का ही परिणाम है। ग्रीक लोगों ने भारत में आकर अपने साहित्य से भारतीय साहित्य पर अच्छा प्रभाव डाला था। बैक्ट्रिया (पंजाब) और गुजरात प्रान्तों में प्रवेश करते हुये उन्होंने अपनी नाटक कला का प्रदर्शन करके भारतीयों को नाटकों की सुरचना के लिये प्रोत्साहित किया था। हम इसे कुछ अंश तक तो सही मानते हैं किन्तु इसे सर्वांश में सत्य एवं मान्य नहीं समझते। इसके लिये हमारे पास प्रमाण भी हैं। इतिहास से ज्ञात होता है कि यूनानी लोग सिकंदर महान के साथ ३२७ वर्ष ईसवी सम्वत के पूर्व भारत में (पंजाब में) आये थे, और केवल किंचित काल तक ही पश्चिमीय भारत में घूम कर उसी ओर से लौट गये थे। भारत के पश्चिमीय भाग की ओर उन्होंने अपना एक छोटा सा राज्य भी स्थापित किया था, और इसी लिये उनका भारत से कुछ काल एवं कुछ अंश तक सम्पर्क-सम्बन्ध भी रहा, फिर भारत-सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य से वे अपने नायक (राजा) सल्यूकस के साथ पराजित हो कर सदा के लिये शान्त हो गये थे। इतने समय में उनका जो कुछ भी न्यूनाधिक सम्पर्क एवं साहचर्य भारत से हुआ था, उसका प्रभाव न केवल भारत ही पर पड़ा था वरन् उन लोगों परभी पर्याप्त रूप से पड़ा था, और उनके साहित्य, उनकी

सभ्यता तथा उनकी अन्यान्य परम्पराओं या पद्धतियों में इस के कारण बहुत कुछ रूपान्तर हो गया था। उन्होंने भारत से अनेक नई कलायें, विद्यायें तथा बातें सीख ली थीं, और विनिमय के रूप में अपनी भी कुछ बातें भारतीयों को सिखा दी थीं।

यह विचार प्रायः पूर्णरूपेण न्याय-संगत एवं इतिहास-पुष्ट भी है। अस्तु, यह हम अवश्य मानते हैं कि यूनानी लोगों का प्रभाव कुछ अंशों में भारतीयों पर और भारतीयों का उन पर अवश्य पड़ा था, किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि भारतीयों के नाटकों पर भी उनका इतना प्रभाव पड़ा था कि उसके कारण उन्हें पूर्ण विकाश प्राप्त हो गया हो।

महाशय वीवर तो इसके भी बहुत आगे जाते हुये जान पड़ते हैं और कदाचित वे इस बात का भी संकेत सा करते हैं कि संस्कृत-नाटकों का प्रौढ़ प्रारम्भ यूनानी लोगों के ही प्रभाव का फल जान पड़ता है। हम इसे इस आधार पर मान्य नहीं समझते कि सिकंदर महान के आगमन के भी बहुत समय पूर्व भारत में नाटकों की अच्छी उन्नति प्राप्त हो चुकी थी। इस बात को हम अपने उक्त लेखांशों में पर्याप्त रूप से दिखला ही चुके हैं।

यह भी हम जानते हैं कि भारतीय साहित्य एवं सभ्यता की परम्परा यूनानी साहित्य तथा सभ्यता की परम्परा से कहीं अधिक भिन्न रूप में है। नाटक-रचना के विषय में भी दोनों देशों की पद्धतियों या परम्पराओं में बहुत बड़ा अन्तर

है (देखो पृष्ठ ११, १२) ऐसी दशा में वीवर साहब का कथन या विचार हमें पूर्णतया पुष्ट, युक्ति-संगत एवं मान्य नहीं जँचता।

हम सप्रमाण कह सकते हैं कि जिस समय यूनान में नाट्य कला एवं नाटक-रचना का श्रीगणेश ही हुआ था उस समय हमारे भारत में इन दोनों की समुन्नत विकास प्राप्त हो चुका था, ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि भारत ने तो नहीं वरन् यूनान ने ही इस कला की शिक्षा प्राप्त की थी और यदि यूनान ने भी भारत के ही समान अपनी नाट्य कला का विकास स्वतंत्र रूप से किया था तो वह भारतीय नाट्य कला से पूर्णतया प्रभावित अवश्यमेव हुआ था। इसका सब से अच्छा अनुमान यह है कि यूनानी लोग चूँकि परदेशीयों के रूप में यहाँ आये थे अतः उन्हें ही भारतीय भाषा आदि से परिचय प्राप्त करना अधिक आवश्यक था, न कि भारतीयों को। यह भी पता चलता है कि भारत में यूनानी भाषा का कुछ भी प्रचार न हुआ था, वरन् यूनानी लोगों ने ही संस्कृत भाषा यहाँ आकर सीखी थी और उसके साहित्य से लाभ उठाया था।

कुछ विद्वानों का मत है कि भारतीयों ने नाटक-कला का विकास यूनानी लोगों के ही प्रभाव-प्रोत्साहन से किया, उनका ही अनुकरण करके अपने यहाँ उन्होंने यवनिका आदि का संचार किया था। कुछ यूनानी पात्र भी उन्होंने रक्खे थे क्यों-

कि भारतीय नाटकों में कहीं कहीं यूनानी और शकार आदि शब्द पाये जाते हैं जो इस बात की ओर संकेत भी करते हैं। यदि अब विचार पूर्वक देखा जावे तो यह विचार भी एक बहुत साधारण अनुमान ही ठहरता है। इन शब्दों से केवल यही ज्ञात होता है कि भारतीयों का यूनानियों आदि से कुछ सम्पर्क हो गया था और वे लोग नाटकों में भी कार्य करने के लिये रख लिये जाते थे। आज भी हमारे यहाँ नाटक-मंडलियों में विदेशीय लोग रहते हैं, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उनके कारण ही खेल खेले जाते हैं। सम्भव तो यही है कि यवनिका नामी परदा कदाचित भारतीयों ने यवनों से बनवाया रहा हो या यूनान के बने हुये वस्त्र का उसमें प्रयोग किया गया रहा हो। इस प्रकार उसे यवनिका की संज्ञा साधारण रूप में दे दी गई हो। अस्तु, इस प्रकार के साधारण तर्क को छोड़ कर हमें दोनों देशों के नाटकों के मुख्य तत्वों की तुलनात्मक आलोचना करनी चाहिये। उससे इस विषय पर अच्छा तथा यथेष्ट प्रकाश पड़ सकता है।

यूनानी और भारतीय नाटकों के मुख्य तत्वों की ओर दृष्टि-पात करने से ज्ञात होता है कि दोनों में विशद अन्तर है। भारतीय नाटक सर्वथा आदर्शवाद रस-भाव, तथा दृश्य-सौन्दर्य के साथ ही साथ मनोरञ्जन के तत्व की प्रधानता रखते हैं। यूनानी नाटकों में ऐसा न होकर चरित्र-चित्रण (जैसा चरित्र संसार में अच्छे या

हुये किसी भी रूप में स्वभावतः प्राप्त होता है) तथा कौतुकों का ही विशेष प्राधान्य रहता है।

भारतीय नाटकों में सुखान्त व दुखान्त का विश्लेषण नहीं, ये प्रायः सदा सुखान्त होकर मनोविनोद के ही देने वाले होते हैं, यूनानी नाटकों में सुखान्त और दुखान्त (Tragedy and Comedy) का विश्लेषण किया गया है। भारत में नाटकों के लिए सुन्दर, सुव्यवस्थित एवं सुसज्जित रङ्गशालाओं का विधान है, किन्तु यूनान में ऐसा न होकर नाटकों के खुले हुये स्थानों में खेले जाने की प्रथा पाई जाती है।

अब स्पष्ट है कि भारत ने अपनी ही प्रतिभा से नाटकों की सृष्टि रची थी। यूनान ने भी कदाचित स्वतंत्र रूप से अपने नाटकों का निर्माण किया था और सम्भवतः भारतीय नाट्य कला को कुछ अंशो में प्रभावित करते हुये उसके प्रभाव से प्रभावित हुआ था अस्तु।

अब यदि दोनों देशों के नाटकों को देखा जावे तो दोनों में कुछ थोड़े से साधारण साम्य-भाव भी आभासित होते जान पड़ते हैं, किन्तु उनके आधार पर कुछ कहना और उसे निश्चित रूप से प्रमाणिक मानना उचित नहीं ठहरता। जहां कहीं दोनों देशों के नाटकों में कुछ साम्य दिखलाई पड़ता है वहीं दोनों में ऐसे परिवर्तन एवं हेर फेर या ओतप्रोत का रूप मिलता है कि उस साम्य का कुछ भी महत्व नहीं रह जाता और उसके आधार पर कुछ भी पुष्टता से नहीं कहा

जा सकता। हां, यह अवश्य ही कुछ अंशों में कहा जा सकता है कि कदाचित यूनानी प्रभाव भारतीय नाटक-विधान पर कुछ थोड़े अंशों में पड़ा हो, क्योंकि सम्पर्क-सम्बन्ध इसकी स्वभावतः सूचना देता है, किन्तु यह कहना ठीक नहीं जंचता कि भारतीय नाटकों के विधान का विकास यूनानी नाटकों से पूर्णतया प्रभावित हुआ है।

नाटक-रचना

हम प्रथम ही दिखला चुके हैं कि नाटक का विषय दो मुख्य भागों में विभक्त हो जाता है १—नाट्य कला—अर्थात् नाटक के खेलने का विधान, इसके भी हम दो रूप दिखला चुके हैं, क—वैज्ञानिक या शास्त्रीय—रूप जिससे साधारण नियमों के द्वारा हमें नाट्य या अभिनयादिक को प्रत्यक्ष रूप में करने के ढङ्गों की शिक्षा प्राप्त होती है और जिसमें नाट्य-कौतुक से सम्बन्ध रखने वाले प्रयोगात्मक (व्यावहारिक) नियम ज्ञात होते हैं, ख—कलात्मक—रूप जिससे हमें नाट्य कला के नियमों को कार्य-रूप में परिणित करना आता है। २—नाट्य-शास्त्र—अर्थात् नाटक-रचना-विधान, इसके भी पूर्ववत् दो रूप हमने दिखलाये हैं अर्थात् अ—नाटक-रचना-विज्ञान—जिसमें नाटकों की रचना से सम्बन्ध रखने वाले आवश्यक नियमों का शास्त्रीय ढङ्ग से विवेचन एवं विधान रहता है, और जिससे हम यह जान जाते हैं कि नाटक किस

प्रकार लिखा जाता है और उसकी रचना किस प्रकार की जानी चाहिये व-नाटक-रचना-कला अर्थात् नाटक-रचना के नियमों का कार्य-रूप में परिणित करना अथवा नाटक लिखना—

हम यह भी दिखला चुके हैं कि नाट्य कला का शास्त्रीय रूप अभी केवल अभिनय-कुशल अभिनेताओं के ही पास पड़ा है, उस पर कोई भी ग्रंथ नहीं लिखा गया। हां, उसका कलात्मक रूप हमें नाटकों में अवश्यमेव देखने को मिलता है। इसी प्रकार नाटक-रचना-कला का भी हाल है। हमें नाटक-रचना का शास्त्रीय रूप अवश्यमेव प्राप्त है और उस पर हमारे संस्कृत-साहित्य में कई ग्रन्थ उपस्थित भी हैं, जिनमें से प्रधान प्रधान ग्रन्थ ये हैं :— १. श्री भरत मुनि कृत नाट्य शास्त्र–इस ग्रन्थ में हमें नाट्य कला-विज्ञान, रङ्गशाला के निर्माण एवं सजाने आदि का विधान, तथा अभिनय (नृत्य) आदि के व्यवस्थात्मक नियम भी प्राप्त होते हैं, किन्तु उनका यथोचित विश्लेषण, वर्गीकरण (विभाजन) एवं वैज्ञानिक यौक्तिक क्रम इस रूप में नहीं प्राप्त होता कि हम यह निश्चय पूर्वक कह सकें कि उसमें नाट्य कला का भी वैज्ञानिक रूप पूर्णतया रक्खा गया है। २–दश-रूपक (श्री धनञ्जय कवि कृत) नाट्य शास्त्र के पश्चात् यही ग्रन्थ नाटक-साहित्य-शास्त्र का द्वितीय प्रधान ग्रन्थ माना जाता है। इसी के आधार पर फिर कुछ अन्य काव्याचार्यों ने अपने २ ग्रन्थों में नाट्य शास्त्र पर विवेचनायें की हैं। ३–साहित्य दर्पण–श्री विश्वनाथ कृत एक काव्य-शास्त्र

का परम प्रख्यात ग्रन्थ है, इसमें नाटक-शास्त्र के संक्षिप्त विवेचन को भी अच्छा स्थान दिया गया है, और प्रायः अन्य सभी ग्रन्थ इसीसे इसी पर आधारित रहते हैं। यह विशेषतया दशरूपक के ही आधार पर लिखा गया है। संस्कृत काव्य शास्त्र के कुछ अन्य ग्रन्थ में भी नाटक शास्त्र का विवेचन किया गया है। यहाँ हमें यह कह देना भी उचित जान पड़ता है कि कदाचित् भरत मुनि के समय में (तथा उनके पश्चात् बहुत दिनों तक भी) नाटकों की गणना काव्यों में न होती थी और न उन्हें काव्य-साहित्य में कोई विशेष स्थान ही दिया जाता था, इसका कारण कदाचित् यही था कि प्रथम उनमें काव्य-कला का पूर्ण अभाव रहता था और वे केवल रङ्गमञ्च पर खेलने के ही लिये लिखे जाते तथा काव्य ग्रन्थों से पृथक ही रक्खे जाते थे। जब बड़े २ कवियों ने इन पर ध्यान दिया और उनके हाथों से इन में काव्य-कौशल का भी अंश प्रधानता एवं विशेषता के साथ आ गया तब इन्हें काव्य-साहित्य में स्थान दिया जाने लगा। कदाचित् यही कारण है कि श्री भरत मुनि ने (तथा उनके पूर्व श्री शिलालिन, कृशाश्व एवं मेधावी आदि अन्य आचार्यों ने) नाट्य शास्त्र को भी काव्य-शास्त्र से पृथक ही रक्खा था। श्री भरत मुनि ने कदाचित इसी आधार पर। नाटक-साहित्य की सत्ता एवं महत्ता को स्वतंत्र तथा काव्य-साहित्य से पृथक देख कर) नाट्य शास्त्र को भी पृथक एवं स्वतंत्र स्थान दे दिया था तथा

उन्हें शास्त्र के लिये पृथक तथा स्वतंत्र रूप से नाटक-सम्बन्धी
लङ्कारों, रसों एवं अन्य साहित्यिक गुणों का सुव्यवस्था-
क विधान-रच कर वैज्ञानिक या शास्त्रीय रूप से विवेचन
त्या था। ऐसा करने में उन्होंने काव्य-शास्त्र या अलङ्कार
ास्त्र से भी सहायता, जो कुछ भी उन्होंने आवश्यक एवं
निवार्य समझी, ली थी। बहुत समय तक काव्य-शास्त्र में
त नाट्य शास्त्र को कोई भी विशेष स्थान आचार्यों ने नहीं
या और दोनों क्षेत्र, उनके साहित्यों के स्वतंत्र एवं पृथक
ने के आधार पर, एक दूसरे से पृथक ही रहने दिया था।

जब काव्य-कला-कुशल कविवरों के द्वारा नाटकों में काव्य-
ौशल-चारुता प्रधानता एवं विशेषता के साथ आ गई, और
थ उन्हें साहित्य में स्थान प्राप्त हो गया तभी नाट्य-शास्त्र
ा भी काव्य-शास्त्र के साथ उसके एक विशेष अङ्ग के रूप
रक्खा गया। इसीलिये उत्तर कालीन काव्य-शास्त्र के
न्थों जैसे साहित्य दर्पण आदि में नाट्य शास्त्र भी हमें प्राप्त
ाता है।

जिस समय से नाटकों में काव्य-कला-कौशल से साहित्यिक
णों का पूर्ण मात्रा में समावेश होने लगा, उसी समय से नाटकों
ो एक ऐसा विशिष्ट रूप प्राप्त होने लगा जो रङ्गमञ्च पर पूर्ण
ाफलता के साथ समुपस्थित न किया जा सकता था, हाँ
से पढ़ कर या सुन कर नाटकीय आनन्द अवश्यमेव (काव्या
न्द के साथ ही साथ) प्राप्त होता था। इस कारण साहि-

त्यिक नाटक एक प्रकार से काव्य में रूपान्तरित हो चले और साधारण रङ्गमञ्च के अनुपयुक्त ठहर कर अभिनय के योग्य न रहे, तथा अभिनयात्मक नाटकों से वे दूर हो चले। यद्यपि कवियों एवं लेखकों का ध्यान सदा ही इस ओर अवश्यमेव रहा कि उनमें अभिनय-क्षमता अपने अच्छे रूप में रहे तो भी वे बहुत कुछ दृश्य न हो सके। इसी कारण कदाचित उनको एक पृथक एवं स्वतंत्र श्रेणी में जो उच्चकोटि की साहित्यिक क्षमता रखती है और जिससे सभ्य साहित्यिक लोगों को ही आनन्द प्राप्त होता है, रक्खा गया, और उन्हें काव्य-साहित्य के नियमों से नियंत्रित भी किया गया। इस प्रकार के नाटकों के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के ऐसे नाटक, जिन्हें साधारण रूप देकर साधारणतया रंगमञ्च पर खेल सकते थे, और जिनसे साधारण श्रेणी के लोगों को आनन्द प्राप्त होता था, प्रथम प्रकार के नाटक साहित्यिक नाटकों से पृथक रहे। प्रथम प्रकार के उन नाटकों के समूह को जिनमें काव्य-कौशल एवं साहित्य की विशेष मात्रा प्रधानता के साथ रहती है दृश्य काव्य कहा गया है। हम समझते हैं कि इस श्रेणी में साधारण कोटि के अभिनय-प्रधान नाटकों को, जिनमें काव्य का प्राधान्य नहीं रहता, इसी लिये रूपक की संज्ञा दी गई हैं। रूपक शब्द का मुख्य अर्थ भी यही सूचित करता है, इसकी व्याख्या या व्युत्पत्ति में कहा जाता है "रूपारोपात्तु रूपकम्" अर्थात

जिसमें दूसरे के रूप का आरोपण दूसरे पर किया जावे, या जिसमें अभिनय का ही विशेष प्रधान्य हो, न कि काव्य एवं साहित्य के गुणों का। जिनमें काव्य एवं साहित्य के गुणों की प्रधानता एवं विशेषता होती है उन्हें कदाचित नाटक ही की संज्ञा देना ठीक है, अथवा यदि हम इसे यों न लें तो हम यह भी कह सकते हैं कि अनभिनेय साहित्यिक नाटकों को, जिनमें काव्य की पूरी पुट रहती है, चूंकि रूपक (या नाटक) का रूप दे दिया जाता है, यद्यपि वे रंगमञ्च पर सफलता के साथ खेले नहीं जा सकते और उनका पूर्णरूपेण अभिनय नहीं हो सकता, रूपक की संज्ञा इसी लिये दी गई है चूंकि उनका रूप दृश्य काव्य या नाटक के ही समान रहता है, हाँ उनका आन्तरिक भाग या हृदय दृश्य नहीं होता। उनपर दृश्य नाटक के रूप का आरोपण ही कर दिया जाता है। अभिनय एवं नृत्य की प्रधानता रखने वाले नाटकों को इसी लिये नाटक की संज्ञा दी गई है। अस्तु, अब हम नीचे इस विषय को जो स्पष्ट रूपसे किसी भी ग्रंथ में नहीं दिया गया और जो अभी संदिग्ध एवं विवाद ग्रस्त सा ही है, स्पष्ट करने के लिये एक वर्गीकरण की व्यवस्था दे रहे हैं, पाठकों को इस पर विचार कर लेना चाहिये।

नाटक—अभिनय-प्रधान, किसी आदर्श-उद्देश्य से लिखे गये कथात्मक (कथानक-प्रदर्शक) वार्तालाप, नृत्य, संगीत, चरित्र-चित्रण एवं भावों से परिपूर्ण उस विषय को कहते हैं,

जिसका प्रदर्शन रंगमञ्च पर पात्रों के द्वारा किया जाता है।,

रूपक-नाटक के रूप में लिखे हुये उस काव्य को रूपक कहते हैं जिसमें साहित्यिक गुणों एवं काव्य-कला-कौशल की विशेषता एवं प्रधानता के साथ ही साथ नाटक के अभिनयादिक तत्व या अंश भी रहते हैं और जिसे रंगमंच पर पूर्ण सफलता के साथ नहीं खेल सकते।

दृश्यकाव्य—नाटक का वह रूप है (या रूपक का वह भेद है) जिसमें काव्यमयी साहित्यिक-क्षमता के साथ ही साथ नाटक-सम्बन्धी अभिनयादि की भी पूरी मात्रा रहती है और जिसका अभिनय रंगमंच पर पात्रों के द्वारा किया जा सकता है।

अब इन उक्त भेदों में से प्रत्येक के दो दो रूप हो जाते हैं:—

१—साधारण—जो साधारण जनता के ही लिये उपयुक्त होता है, और जो साधारण भाषा एवं शैली में लिखा या रक्खा जाता है।

२—साहित्यिक—(विशिष्ट) जो उच्च कोटि या श्रेणी के लोगों के लिये पूर्ण साहित्यिक पुट के साथ प्रौढ़, भावपूर्ण एवं उच्च कक्षा की परिष्कृत भाषा एवं शैली में रहता है।

इनके साथ ही हम एक रूप उस प्रकार के नाटक का भी रख सकते हैं जो निम्न कोटि का होता है। उसे हम निकृष्ट

नाटक कहते हैं। साहित्यिक एवं शिष्ट समाज से ही यह परे नहीं रहता वरन् साधारण समाज से भी यह दूर रहता है।

छाया-चित्र-कौतुक के लिये भी, हमारी समझ में एक विशेष प्रकार का नाटक स्वतंत्र रूप से, पृथक किया जा सकता है, क्योंकि इसमें अभिनय-प्रधान (प्रत्यक्ष रूप से रंगमंच पर खेले जाने वाले) नाटकों की अपेक्षा अधिक विशेषता रक्खी जा सकती है, और चित्रों के कारण इसमें रंगमंच पर न दिखाये जा सकने वाले दृश्य एवं अभिनयादिक कार्य या व्यापार, चातुरी एवं चारुता के साथ दिखलाये जा सकते हैं। हमें प्राचीन ग्रन्थों से पता चलता है कि प्रथम पुत्तली-कौतुक (कठपुतली के खेल) के लिये नाटक स्वतंत्र एवं पृथक रहते थे। इसी प्रकार कदाचित छाया-चित्रों के (सिनेमा के प्रारंभिक रूप के) कौतुक के लिये भी विशेष रूप के नाटक लिखे जाते थे।

उक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त भी नाटकों का वर्गी करण अन्य विचारों को प्राधान्य देकर हम कर सकते हैं। यहां हम संकेतरूप में कुछ अन्य वर्गीकरण-विधान दे देते हैं। भाव-प्रभाव के विचार से प्रत्येक प्रकार के उक्त नाटक १-उत्तम २-मध्यम और ३-निकृष्ट तीन विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं। यदि नाटकीय कथा-वस्तु को प्रधानता दी जावे तो नाटकों का श्रेणी-विभाग इस प्रकार किया जा सकता है :—

१–कल्पित.

जिसमें कथानक पूर्णतया कल्पित ही हो, और किसी विशेष उद्देश्य से उसकी कल्पना की गई हो।

२–ऐतिहासिक

(पौराणिक) जिसमें किसी ऐतिहासिक या पौराणिक कथा एवं चरित्रावली का चित्रण किया गया हो।

३–वास्तविक

जिसमें किसी सत्य घटना या कथा का प्रदर्शन कराया जावे।

४–मिश्रित

जिसमें उक्त प्रकार की कथाओं में से एक या अधिक के तत्वों का समावेश हो।

इसी प्रकार नाटक के उद्देश्यों को प्रधानता देकर हम मुख्य रूप से नाटकों की कक्षायें यों बना सकते हैं:—

१–आदर्शात्मक

जिसमें किसी सदादर्श का चित्रण किया जावे, इसके उपभेद मुख्यतया यों हो सकते हैं:—

क-धार्मिक

धार्मिक आदर्श ही जिसमें मुख्य एवं प्रधान हो।

ख-सामाजिक

जिसमें किसी सामाजिक उद्देश्य को ही प्रधानता दी गई हो।

ग-नैतिक

जिसमें किसी राजनैतिक विचार को ही विशेषता दी जावे।

घ चारित्रिक

जिसमें सच्चरित्रता तथा दुश्चरित्रता के आधार पर सद्गुणों एवं सत्कर्मों तथा दुर्गुणों एवं दुष्कर्मों की लीलाओं का सदुपदेशार्थ प्राधान्य हो। यद्यपि मानवचरित्र का चित्रण करना प्रत्येक प्रकार के नाटक का मुख्य कर्तव्य है तथापि इसमें सत्कर्मादि को ही पात्रों का रूप दे दिया जाता है तथा उन्हीं की लीलायें दिखलाई जाती हैं चाहे ये काल्पनिक हों या सत्य।

ङ-स्वाभाविक

जिसमें जीवन के उन्हीं रूपों का चित्रण किया जाये जो संसार में सचमुच पाये जाते हैं, उनमें किसी प्रकार के आदर्शवाद की पुष्ट न दी जाये, परन् स्वाभाविक एवं सच्चे रूप का यथावत लोक-प्राप्त चित्रण रहे।

पात्रों के दैवी एवं मानुषी रूपों के विचार से भी दो रूप और हो सकते हैं, १-दैवी में तो देवताओं और दानवों आदि के रूपों में पात्र रहेंगे, किन्तु मानुषी में पात्र सभी मनुष्य रहेंगे,

जहां दोनों प्रकार के पात्रों का सामंजस्य हो वहां हम मिश्रित रूप कह सकते हैं।

अब हम नाटकों का विभाजन इस प्रकार और कर सकते हैं।

१—संगीतात्मक

जिसमें संगीत की ही महत्ता-सत्ता रहे।

२—पद्यात्मक

जिसमें पद्यों या छंदों ही का, प्राधान्य एवं बाहुल्य हो। कुछ नाटकों में तो गद्य भाग प्रधान ही रहता है किन्तु कुछ में गद्य रहता ही नहीं, वरन् सभी पद्य रहता है और एक विशेष रूप का पद्यगान (तुकान्त) गद्य प्रधान रूप में रहता है।

३—गद्यात्मक

जिसमें केवल गद्य का ही पूर्ण व्यापक राज्य हो। पद्य या छंदादि उसमें कुछ भी न हों। अब इस शैली के नाटक हिन्दी में खूब चल पड़े हैं। और यही स्वभाविक भी है। नाटक में पद्य-पत्ता या पद्य रखना अस्वाभाविक तथा अनुपयुक्त भी सा है।

४—मिश्रित

जिसमें उक्त दो या अधिक रूपों का सामंजस्य किया गया हो। प्राचीन शैली यही है, और इसी के कारण कदाचित नाटकों को काव्य-साहित्य में अच्छा स्थान प्राप्त हो गया है।

यदि हम भाषा के विचार से नाटकों का वर्गीकरण करना चाहें तो ठीक न होगा क्योंकि नाटक-शास्त्र के नियमानुसार नाटक में पात्रों ही की भाषा के अनुसार भाषा होनी चाहिये। सभ्य एवं सुशिक्षित पात्रों के द्वारा शुद्ध साहित्यिक भाषा, तथा साधारण पात्रों के द्वारा साधारण, ग्रामीण एवं निम्न श्रेणी के पात्रों के द्वारा ग्रामीण एवं अशिष्ट भाषा का प्रयोग कराना चाहिये। संस्कृत के नाट्य-शास्त्र में वैदिक संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश आदि का उपयोग पात्रों के आधार पर किया गया है। हमारी हिन्दी भाषा में, खेद है, अभी तक नाटकों में भाषा का ऐसे विचार, एवं विश्लेषण (विभाजन) नहीं किया गया। यहां अभी प्रायः सभी नाटक एक ही प्रकार की शिष्ट एवं साहित्यिक रूप वाली भाषा में लिखे जाते हैं, हां यह अवश्य है कि कुछ लेखक (नाटककार) तो शुद्ध साहित्यिक हिन्दी का, जिसमें उर्दू के शब्दों का पूर्ण अभाव रहता है (साहित्यिक नाटक लिखने के विचार या उद्देश्य से प्रेरित हो कर) उपयोग करते हैं और कुछ उर्दू-हिन्दी मिश्रित शैली वाली साधारण नागरिक भाषा का प्रयोग करते हैं (अभिनय को प्रधानता देकर खेलने योग्य नाटकों के रचने का ही उद्देश्य एतदर्थ उन्हें प्रेरित करता है), किसी किसी लेखक ने सतुकान्तभाषा का भी प्रयोग किया है, और पद्यवत्ता के भी लाने का प्रयास किया है। किन्तु, प्रायः सभी हिन्दी-नाटककार पात्रों की भाषा का ध्यान नहीं रखते। कदाचित सभी

अभी साहित्यिक तथा अभिनयात्मक नाटकों के ही लिखने के एक मात्र उद्देश्य से प्रेरित रहते हैं। ऐसी दशा में हम नाटकों का विभाजन भाषा-वैलक्षण्य के आधार पर नहीं कर सकते।

यह अवश्य है कि हम नाटकों का वर्गीकरण एक प्रकार से और कर सकते हैं और वह यह है:—

१. शुद्ध साहित्यिक नाटक काव्य—जो अपने रूप एवं ढंग से तो नाटक ही जान पड़ते हैं, किन्तु वास्तव में वे नाटक रूपी काव्य (पाठ्य या श्रुत) ही होते हैं, उनको रंगमंच पर सफलता पूर्वक हम खेल नहीं सकते, जब तक उनमें अभिनयोचित परिवर्तन या रूपान्तर न कर दिया जावे।

२. साधारण साहित्यिक—जो साहित्यिक ढंग से रचे जाने पर भी रंगमंच पर शिष्ट एवं पठित (सभ्य) जनता के *सम्मुख खेले जा सकते हैं और साहित्यिक गुणों की विशेष* पुट या मात्रा नहीं रखते, हाँ इतनी अवश्य रखते हैं कि साधारण जनता के वे उपयुक्त नहीं ठहरते।

३. साधारण—जो साधारण श्रेणी की जनता के ही लिये रचे जाते हैं और जिनमें साहित्यिक तत्व न रह कर अभिनय का ही पूर्ण प्राधान्य रहता है। इनका एक ग्रामीण रूप भी होता है, जो ग्रामीण जनों के ही उपयुक्त होता है।

४. रूपान्तरित—जो नाटक किसी काव्य ग्रंथ पर ही पूर्ण रूप से समाधारित रहते हैं और उस काव्य के रूपान्तरित

रूप में ही लेते जाते हैं, तथा जिनमें उस काव्य के मुख्य २ स्थल एवं अंश अविकल रूप से उद्धृत कर दिये जाते हैं, यथा रामलीला नाटक।

५. नाटकाभाव—जिनमें नाटकों का आभास ही मात्र रहता है, शेष सब बातें केवल लीलाओं की ही रहती हैं। यथा रास लीला आदि के नाटकीय रूप।

अस्तु, नाटकों का इस प्रकार भिन्न २ उद्देश्यों के आधार पर वर्गीकरण करने के उपरान्त अब हम नाटक-रचना और नाटक-ग्रंथों का कुछ सूक्ष्म परिचय भी दे देना चाहते हैं।

नाटक-ग्रंथ

हम कह चुके हैं कि भारत में ईसा से कई शताब्दी पूर्व से ही नाटक-रचना का कार्य कवियों ने अत्यंत सुचारु रूप से आरम्भ कर दिया था। नाट्य-शास्त्र की रचना के पूर्व (२०० या ४०० वर्ष पूर्व ईसा) ही कतिपय सुन्दर सर्वांग पूर्ण नाटक संस्कृत भाषा में लिखे जा चुके थे। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र से इसका पर्याप्त पता चलता है। कौटिल्य का यह अर्थ-शास्त्र श्रीभरत मुनि के नाट्य-शास्त्र का प्रायः समकालीन ही सा माना जाता है। हमने यह भी लिखा है कि नाटक के अविकसित रूपों के समय में भी उनके लिये स्वतंत्र एवं पृथक नाटक-ग्रन्थ रचे जाते थे। छाया नाटकों की भी सृष्टि छाया-चित्र-कौतुकों के समय में ही होकर पर्याप्त विकास को

प्राप्त हो चुकी थी, और श्रीमुभट, भवभूति, राजशेखर तथा जयदेव आदि के द्वारा दूतांगद, महावीर चरित, बाल रामायण और प्रसन्नराघव आदि ग्रन्थ बन चुके थे।

इससे यह स्पष्ट है कि जिस जिस प्रकार नाट्य-कला में उन्नति या विकास का प्रकाश होता गया है उसी उसी प्रकार उसके साथ ही साथ उसी के आधार पर अथवा उसी की सहायता के लिये नाटक-ग्रन्थों की रचना-कला का भी विकास होता आया है। साथ ही ज्यों ज्यों नाटकों का सम्बन्ध एवं प्रचार सभ्य, शिष्ट एवं सुपठित (सुविकसित) समाज में होता गया त्यों त्यों ही नाटक-रचना एवं नाट्यकला में भी उच्च कोटि की काव्य-कला तथा साहित्यिक सुन्दरता का समावेश होता गया है, और गद्य-काव्य का रुचिर कौशल इन में प्रविष्ट होता चला आया है। संगीत तथा नृत्य के स्थान पर काव्योचित छंदों (जिनमें संगीत की भी कुछ या पर्याप्त पुट रहती है) तथा भाव-पूर्ण अभिनय का प्राधान्य होता गया है। कहना चाहिये कि इस प्रकार न केवल नाट्यकला ही का क्रमश उत्तरोत्तर विकास-प्रकाश हुआ है वरन उसी के साथ उसी के आधार पर नाटक-रचना की भी उन्नति हुई है, किन्तु इन दोनों के उत्तरोत्तर परिवर्धित, विकसित एवं परिमार्जित होने पर भी इनकी अपेक्षा नाट्यशास्त्र में बहुत ही न्यून परिवर्तन या परिवर्धन हुआ है। कदाचित इसका कारण यही है कि भरत मुनि के सर्वाङ्ग-पूर्ण उत्तम नाट्यशास्त्र के पश्चात उसमें

कुछ विशेष संशोधन या परिवर्धन आदि के करने
श्यकता ही शेष न रही थी। नाट्यशास्त्र में चारों ओर
पूर्ण विचार एवं विवेक के साथ नाटक-विधान की
एवं सुव्यवस्था कर दी गई थी कि उससे आगे बढ़ने
स्थान ही न था, हां उसे संकीर्ण एवं संक्षिप्त रूप दे देन
ही सरल-साध्य था। यद्यपि कुछ नाटककारों ने नाट्य
नियमों में कुछ रूपान्तर एवं परिवर्तन करते हुये नाट
की थी, तथापि आचार्यों ने नाट्यशास्त्र में उनके आ
रूपान्तर या परिवर्तन (संशोधन के रूप में) नहीं
विद्वान साहित्याचार्यों ने यह अवश्य किया कि ज
नाटकों का काव्य से सम्बन्ध था वहीं तक उन्होंने उन प
नाट्यशास्त्र पर अपने काव्य-सिद्धान्तों के अनुसार विवे
विचार किया है। नाटकों या नाट्यकला के अभिनय स
(संगीत एवं नृत्यादि सम्बन्धी) अंशों या भागों को
अपनी सीमा से बाहर समझ कर पूर्णरूप से छोड़ ही
और यह कार्य नाट्यकला-कुशल अभिनेता-वर्गों के लि
छोड़ दिया था। साहित्यिक नाटकों तथा उनसे ही सा
रखने वाले नाटक-रचना-विधान की विवेचना आचा
केवल उतनी ही दूर तक की जितनी दूर तक उसका सा
काव्य-साहित्य तथा काव्य-रचना-शास्त्र से थी। इसी
नाट्यशास्त्र पर हमें बहुत ही कम ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

यहां यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि नाटकों में जब अभिनय की प्रधानता हो गई तब साहित्याचार्यों ने इस नाट्यशास्त्र को और भी पृथक कर दिया। संस्कृत के उत्तर काल में नाटकों का प्राधान्य-प्रचार काव्य की अपेक्षा बहुत ही न्यून एवं संकीर्ण सा हो गया था, इसीलिये कदाचित काव्याचार्यों एवं कवियों ने नाटकों तथा नाट्यशास्त्र के विकास की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, अस्तु।

कवि-कुल-कमल-दिवाकर श्रीकालिदास से ही नाटकों का प्रारंभिक काल अब तक माना जाता था, किन्तु इधर की ोज से प्राप्त हुई साहित्यिक सामग्री से अब यह विचार र्मूल सिद्ध हो चुका है और श्रीकालिदास के समय से भी कई ाब्दियों पूर्ववर्ती नाटकों के प्राप्त होने से अब कालिदास का मय नाटकों के विकास का मध्य युग माना जाने लगा है। लिदास जी से पूर्व कई नाटककार हो चुके थे, उनमें से ुछ प्रधान नाटककारों के नाटकों की अब प्रतियां भी प्राप्त कर छप गई हैं। श्रीभास के कई नाटक ट्रावनकोर में पाये ये हैं, इसी प्रकार बौद्धकालीन कतिपय नाटक तथा उनकी डित प्रतियां मध्य एशिया में भी प्राप्त हुई हैं, कुछ उनमें से अश्वघोष के रचे हुये हैं।

इन सब नाटकों की भाषा शुद्ध संस्कृत तथा शैली भी ही है जिसका विधान नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है और

जिसका अनुसरण उत्तर कालीन नाटककारों ने भी अपने नाटकों में किया है।

इससे यह सिद्ध होता है कि इनके समय में ही नाटक-रचना का यथोचित विकास-विवेचन हो चुका था, और कई लक्षण ग्रंथ भी रचे जा चुके थे, किन्तु इस समय की इस नाट्योन्नति की दशा का पूर्ण इतिहास अद्यावधि अप्राप्त ही है।

श्रीकालिदास के ही समय से हम नाटक-रचना का ऐतिहासिक वृत्तान्त भली प्रकार निश्चित रूप में पाते हैं। श्रीकालिदास ने मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी तथा शकुन्तला नामी ३ बहुत ही उत्तम और विश्व-विख्यात नाटक लिखे, इनके ही कारण कदाचित नाटकों को काव्य-साहित्य में उच्च स्थान प्राप्त हो सका है।

कालिदास जी के पश्चात् कई अच्छे नाटकों की रचना श्री हर्ष जी ने की, और सप्त शताब्दी को अपने नगानन्द तथा रत्नावली नामी रचनाओं से चिरस्मरणीय बना दिया। श्री शूद्रक ने मृच्छकटिक नामी एक सुन्दर सर्वांगपूर्ण नाटक लिखा। कहा जाता है कि यह श्री भासकृत "दरिद्र चारुदत्त" नामी नाटक पर ही समाधारित है। इनके उपरान्त कन्नौजाधिपति श्री यशोवर्धन के राजकवि श्री भवभूति जी ने नाटक-रचना के क्षेत्र में आचार्योचित स्वातंत्र्य के साथ नाट्यशास्त्र के नियमों में विशदता तथा संशोधन सा करते हुये अपने कई उत्तम नाटक लिखे, जिनमें से उत्तररामचरित, महावीर चरित तथा

मालती माधव परम प्रशस्त माने जाते हैं। अपने इन नाटकों की रचना करते हुये आप नाट्यशास्त्र के कुछ नियमों की सीमा से न्यायानुमोदित, तर्कसंगत तथा यथोचित स्वातंत्र्य के साथ बाहर भी चले गये हैं। आपने अपने नायकों के साथ विदूषक नहीं रक्खा, तथा उत्तर राम चरित में शृंगार एवं वीर रसों को छोड़ कर (जिनको ही स्थायी रूप में रखने का विधान नाट्यशास्त्र में पाया जाता है) करुणा रस को ही स्थायी रस के रूप में प्रशस्त एवं सफल काव्य-कला-कुशलता के साथ प्राधान्य दिया है और कह भी दिया है—"एको रसः करुणमेव निमित्त भेदात्"............। आपने नाटकों में इतनी अधिक साहित्यिक पुट लगा दी है कि वे सब प्रकार साहित्यिक रूप में ही होकर अभिनय के योग्य नहीं रह गये और न वे पूर्ण सफलता के साथ रङ्गमञ्च पर खेले जाने के ही योग्य रह सके हैं। श्री कालिदास के नाटकों में यह बात इतने प्राधान्य एवं प्राबल्य के साथ नहीं है, उनमें साहित्यिक काव्य-कला तथा अभिनय-क्षमता दोनों अपने २ यथोचित रूप में सुन्दर सामञ्जस्य के साथ पायी जाती हैं। वेणी संहार की रचना श्री नारायण जी भट्ट ने तथा मुद्राराक्षस की श्री विशाखदत्त ने नवीं शताब्दी के मध्य काल में की थी, तथा इसी के पश्चात् श्री राजशेखर जी के द्वारा बाल रामायण, कर्पूर मञ्जरी और बाल भारत नामी कतिपय नाटक रचे गये

थे। इन सब उच्च कोटि के साहित्यिक तथा काव्य-कला पूर्ण नाटकों को देखते हुये (तथा इनकी शैलियों एवं इनकी विकसित रचना-व्यवस्था के परिष्कृत एवं परिमार्जित रूपों पर तुलनात्मक एवं वैज्ञानिक रीति से विवेचनात्मक विचार करके तथा यह देख कर कि नाट्य शास्त्र के नियमों में इनके परिवर्तित रूपों के आधार पर काव्य-प्राधान्य के साथ कुछ विशेष रूपान्तर की आवश्यकता है) दसवीं शताब्दी में श्री धनञ्जयाचार्य ने "दशरूपक" नामी एक प्रसिद्ध रीति-ग्रन्थ लिखा, जिसमें नाटक के भिन्न २ अङ्गों तथा, तत्वों पर गम्भीर विचार प्रकाशित किये। ग्यारहवीं शताब्दी में श्री कृष्ण मिश्र ने प्रबोध-चन्द्रोदय नामी एक उत्तम नाटक लिखा, इसी शताब्दी से संस्कृत-नाटकों का ह्रास एवं अवसान काल प्रारम्भ हो गया। यह ज्ञात ही है कि ग्यारहवीं (तथा पूर्ण रूपेण बारहवीं) शताब्दी ही में हमारी हिन्दी भाषा का उदय हो चलता है, और देश की राज नैतिक तथा अन्य प्रकार की परिस्थितियों में एक गहरा परिवर्तन ऐसा प्रारम्भ होता है जिसके प्रभाव से संस्कृत के इस प्रकार के सुन्दर तथा पूर्ण मौलिक, परिष्कृत एवं उच्च कोटि के साहित्य के विकास-प्रकाश या प्रसार-प्रचार को विनाशक धक्का लगता है। संस्कृत-साहित्य की प्रगति अवरुद्ध सी ही हो जाती है और वह उन्नति के पथ पर शान्ति-समृद्धि के साथ उत्तरोत्तर अग्रसर न हो सकने के लिये विवश हो जाता है। यह अवश्य होता

है कि यत्र-तत्र कुछ संस्कृतज्ञ साहित्य-प्रेमी विद्वान आचार्य कवि, नाटककार तथा लेखक किसी प्रकार कुछ न कुछ साहित्य-सेवा का प्रशस्त एवं पवित्र व्रत निबाहते चलते हैं किन्तु उसका कुछ विशेष आर्य कार्य्य नहीं कर पाते। यह दशा उत्तरोत्तर रूपान्तरित होती हुई सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दियों तक न्यूनाधिक रूप में चली आती है और फिर हिन्दी (व्रज भाषा तथा अवधी भाषा के धार्मिक राम व कृष्ण) सम्बन्धी वैष्णव काव्य के प्रबल अभ्युदय के सामने पूर्ण रूप से विलीन सी ही हो जाती है, और केवल कुछ विद्वानों की मंडली में ही यह संकीर्ण रूप से सीमित रह जाती है। ऐसी दशा में संस्कृत-नाटकों के मौलिक एवं उत्तम कार्य का होना यदि असम्भव नहीं तो दुस्साध्य सा तो अवश्य ठहरता है। बस इसी समय से संस्कृत के उत्तम नाटकों की रचना की एक प्रकार से इति श्री ही हो जाती है।

खेद यह है कि इनके स्थान पर हिन्दी में उत्तम नाटकों की रचना का कार्य इसी समय से प्रारम्भ भी नहीं हो पाता और इसका अनिवार्य कारण भी है। देश, समय, तथा परिस्थितयों के प्रभाव से वैष्णव धर्म की तूती बोलने लगती है और हिन्दी के सभी प्रतिभावान कवि एवं लेखक वैष्णव काव्य की ही रुचिर एवं सरस सरिता में ऐसे लीन हो जाते हैं कि उन्हें साहित्य के नाटक जैसे अन्य अङ्गों या विषयों की पूर्ति का ध्यान ही नहीं रह जाता। हाँ, संस्कृत में

इस समय में अवश्यमेव कुछ थोड़े से नाटक लिखे गये मिलते हैं परन्तु वे उतने उत्तम नहीं जितने कि प्रथम लिखे जा चुके थे।

हिन्दी-नाटकों का उदय उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम या भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र के समय से ही प्रारम्भ होता है।

भारत में नाटकों का ह्रास मुसलमानों के आक्रमणों से तथा उन्हीं के समय से प्रारम्भ हो गया था, इसके मुख्यतया ये कारण हो सकते हैं। सब से प्रधान कारण तो यही जान पड़ता है कि युद्ध के समय तथा अशान्ति की प्रखर क्रान्ति के आगे नाटक जैसे मनोरंजक खेल-कौतुक अच्छे नहीं लगते। यह स्वाभाविक ही है कि राजनीतिक दुरवस्था के दिनों में कला, काव्य, साहित्य, तथा नाटकादिक आनन्दप्रद विषयों की ओर से देश एवं समाज की रुचि या मनोवृत्ति हट जाती है और जनता इनकी ओर से वैमुखी वृत्त सी धारण कर लेती है। अस्तु, मुसलमानों के आक्रमणों से उत्पन्न होने वाली राजनीतिक अशान्ति एवं अव्यवस्था के समय में यदि संस्कृत-नाटकों की इतिश्री हो चली और हिन्दी नाटकों का भी उदय न हो सका तो सर्वथा स्वाभाविक ही था।

हमें यह भी ज्ञात है कि मुसलमानों को सदा ही से काव्य, संगीत एवं कला (नाट्यकला) आदि से कुछ भी प्रेम न था, क्योंकि वे ऐसे देश के निवासी थे जहां इस प्रकार के विषयों के लिये उपयुक्त साधनों का पूर्ण अभाव है। मुसलमानों को

देश, समाज तथा अन्य प्रकार की परिस्थितियों के विशेष विधानादि के प्रभाव से इन विषयों का कुछ भी ज्ञान न था। उनके देशों में नाटक होते ही न थे, और हो भी न सकते थे, क्यों कि वहां की जलवायु एवं अन्य बातें उनके उपयुक्त नहीं हैं। अस्तु, उनकी रुचि नाट्यकला की ओर कुछ भी न थी। इसीलिये जब ये यहां सुख-शान्ति के साथ राज्य भी करने लगे तब भी नाट्यकला एवं नाटक-रचना की विकास-वृद्धि या उन्नति न हो सकी। अपनी धार्मिक दृष्टि से भी (उनके धर्म में नाटकादि का एक प्रकार से विरोध एवं निषेध किया गया है) कारण वे इनमें भाग न ले सकते थे और इसीलिये वे इसे उन्नत होते हुये भी न देख सकते थे, वरन इनका वे विरोध एवं निषेध ही सा करते थे। हां, जहां कहीं हिन्दू-राजाओं के छोटे २ राज्य थे वहां कभी २ नाटकों का कुछ कार्य हो जाता था। इस प्रकार भारत की यह प्रशान्तकला समय के प्रभाव से ११ वीं शताब्दी तक मृतप्राय सी ही पड़ी रही।

धार्मिक काल (१५ वीं एवं १६ वीं या १७ वीं शताब्दियों में ऐसे स्थलों या प्रान्तों में, जहां धार्मिक केन्द्र थे, रामलीला, रासलीला एवं कीर्तन आदि अवश्य हुआ करते थे, और इन के रूप ठीक वैसे ही थे जैसे रूपों की हमने नाटकों के प्रारंभिक रूपों की संज्ञा दी है। इसका एक मुख्य कारण यह था कि इन लीलाओं का लक्ष्य एवं उद्देश्य पूर्णतया धार्मिक रूप में ही रहता था और धर्म-प्रचार के लिये ही ये

हुआ भी करती थीं, इनमें संगीत और नृत्य का ही प्राधान्य एवं महत्व रहता था, अभिनय तो प्रथम रहता ही न था और यदि रहता भी था तो बहुत ही संकीर्ण एवं न्यून रूप में। प्रायः इन लीलाओं में स्वांग से बनाकर पात्र बैठा दिये जाते थे, और कथोपकथन एक या दो स्वतंत्र व्यक्तियों या पाठकों के द्वारा करा दिये जाते थे। कभी २ पात्र कुछ आंगिक नृत्य भी कर दिया करते थे। इन लीलाओं का आधार नाटक-ग्रंथ में न रहता था वरन् ये रामायण या भागवत आदि के अनुवादित काव्य-ग्रंथों पर ही आधारित रहते थे क्योंकि हिन्दी में अभी नाटक-रचना का उदय भी न हो सका था।

चूंकि संस्कृत भाषा एवं उसके साहित्य (काव्य एवं नाटक) का प्रचार-प्रस्तार उठ ही सा गया था और साधारण जनता से ये पृथक एवं परे हो चुके थे (केवल कुछ संस्कृतज्ञ विद्वानों की ही समाज में इनको कुछ आश्रय प्राप्त था, हिन्दी-सेवियों की समाज में भी संस्कृत-साहित्य का प्रचार प्रगाढ़ रूप में न रह गया था, जो संस्कृतज्ञ संस्कृत-नाटकों से परिचित थे वे नाट्यकला (हिन्दी-नाट्यकला तथा हिन्दी-नाटक-रचना) से उदासीन होकर उससे दूर ही रहते थे। इसीलिये नाट्यकला तथा नाटक-रचना का कार्य सुचारु एवं विशिष्ट रूप से हिन्दी-संसार में उस समय न होता था। अस्तु, यह विषय एवं कार्य विस्मृति के ही क्षेत्र में १६ वीं शताब्दी

के अंतिम काल तक पड़ा रहा और हिन्दी नाटक-रचना का उदय न हो पाया।

भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र ने ही हिन्दी-नाटक रचना का वास्तव में उदय किया, और इसके लिये उनका नाम हिन्दी-संसार एवं साहित्य में सदा ही स्मरणीय रहेगा। जो कुछ इस ओर इस विषय में कार्य हुआ है, उसका श्रेय प्रथम हिन्दी-नाटक-रचना को प्रोत्साहन प्रदान करने वाले इन्हीं उक्त बाबू साहब को है। यद्यपि भारतेन्दु बाबू के भी पहिले कुछ लोगों (कवियों) ने संस्कृत-नाटकों के आधार पर (उनका अनुवाद ही सा करते हुये) कुछ नाटक लिखे थे— यथा—नेवाज कवि ने शकुन्तला नाटक, ब्रजवासी दास ने प्रबोध चन्द्रोदय और हृदयराम ने हनुमन् नाटक आदि— किन्तु इनमें काव्य-कौशल की ही मात्रा प्रधान एवं प्राचुर्य रूप में होने से हम इन्हें यथार्थ में नाटक नहीं कह सकते, इनमें नाटक के नियमों का भी पालन पूर्ण रूप से नहीं किया गया। इनके अतिरिक्त इन्हीं की देखादेखी प्रभावती और आनंद रघुनंदन आदि कुछ नाटक और लिखे गये (जो संस्कृत-नाटकों पर ही एक प्रकार से समाधारित थे) जिन्हें हम किसी प्रकार नाटकों के न्यूनाधिक रूप में मान सकते हैं, किन्तु पूर्णतया इन्हें भी नाटक कहना हमें ठीक नहीं जँचता। इस प्रकार नाटक-रचना का (अनुवाद रूप में ही सही) कुछ सूत्रपात अवश्यमेव इस समय हो चला।

सुना जाता है कि भारतेन्दु बाबू के पिता श्री बा० गोपाल चन्द्र (उपनाम गिरधर दास) ने नहुष नामी एक हिन्दी नाटक लिखा था, जिसमें नाटक के प्रायः सभी मुख्य गुण थे, इसी लिये इसे हिन्दी का सब से प्रथम नाटक कहा जाता है। इसमें मौलिकता तो थी, किन्तु भाषा इसकी ब्रजभाषा ही थी, क्योंकि उस समय ब्रजभाषा ही विशेष रूप से साहित्यिक भाषा मानी जाती थी और उसी का उपयोग हिन्दी-साहित्य-या काव्य-साहित्य के क्षेत्र में व्यापक और विशेष रूप से होता था। यद्यपि महात्मा तुलसीदास तथा जायसी ने अवधी भाषा को भी साहित्यिक रूप देकर हिन्दी-जनता के सम्मुख उपस्थित कर दिया था, किन्तु उसे फिर उतनी प्रधानता, प्रतिष्ठा और क्षमता न प्राप्त हो सकी जितनी ब्रजभाषा को, और वह साहित्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा के समान सर्वमान्य गौरव एवं क्षमता (उपयुक्तता) के साथ व्यापक और विशेष रूप से प्रयुक्त होकर अग्रसर न हो सकी। साहित्य, साहित्य-सेवियों तथा कवियों आदि में ब्रजभाषा का ही व्यापक या विशेष रूप से प्रचार होता रहा।

राजा लक्ष्मण सिंह ने साधारण बोल-चाल की भाषा में ब्रजभाषा की पुट देते हुये एक प्रकार की मिश्रित भाषा में श्रीकालिदास के शकुंतला नाटक (संस्कृत में) का अनुवाद किया। इनके उपरान्त भारतेन्दु बाबू ने साहित्य के इस अंग (नाटक) की पूर्ति करने तथा उसे प्रोत्साहन देकर विकसित

एवं उन्नत करने का संकल्प किया और इसी के द्वारा हिन्दी भाषा (खड़ी बोली) तथा हिन्दी-साहित्य में नव जीवन का संचार करते हुये साहित्य के क्षेत्र में एक स्मरणीय युगान्तर उपस्थित कर दिया।

आपने छोटे बड़े सब मिला कर लगभग २० नाटक लिखे जिनमें से कुछ तो न्यूनाधिक रूप में संस्कृत-नाटकों के अनुवाद ही हैं और कुछ छायानुवाद या उनके आधार पर आधारित हैं। हां कुछ नाटक आपके मौलिक भी हैं। इस प्रकार हिन्दी-नाटक-रचना का यह उदय अनुवाद रूप से ही प्रारम्भ हुआ, अर्थात् इस प्रारंभिक समय के नाटक प्रायः अनुवाद एवं छायानुवाद के रूप में ही उदय हुये। ऐसा ही होना इस समय में सर्वथा स्वाभाविक एवं एक प्रकार से आवश्यक या अनिवार्य ही था, क्योंकि हिन्दी-नाटकों का जन्म या उदय, हिन्दी-काव्य के ही समान, संस्कृत नाटकों से ही होना आवश्यक तथा अवश्यम्भावी था। इन अनुवादित नाटकों ने हिन्दी-नाटक-कारों को नाटक-रचना के पथ का प्रदर्शन कराया और उन्हें हिन्दी-साहित्य में नाटकों की कमी के पूरा करने में प्रोत्साहित एवं प्रवर्तित किया।

भारतेन्दु बाबू ने नाट्यशास्त्र के नियमोपनियमों पर भी कुछ प्रारंभिक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया, और इस प्रकार हिन्दी-नाट्यशास्त्र की रचना का संकेत देकर उसका पथ भी दिखलाया। अस्तु, उनके बाद हिन्दी में नाटक-रचन

का भी कार्य हो चला, और अब तक में कुछ नाटक
क्षेत्र में आ उपस्थित हो सके। यद्यपि अभी तक
सुन्दर मौलिक नाटकों की बहुत ऊनता है, तो भी।
सकते हैं " Some thing is better than nothing
न होने की अपेक्षा थोड़ा ही होना अच्छा है" अस्तु ।

इस के उपरान्त भी निवास दास कृत रणधीर
मोहिनी, पंडित केशव राम कृत सज्जाद संबुल और श
सौसन आदि नाटक हमें मिलते हैं किन्तु इन का अ
नहीं हो सकता क्योंकि ये बहुत बड़े हैं। यही बात
आधिक्य रूप से पं० बद्री नारायण चौधरी के भारत सौ
नाटक में भी है।

पं० बालकृष्ण भट्ट-रचित तथा बाबू-सीता राम
नाटकों का भी प्रचार हिन्दी-संसार में अब नहीं पाया ज
यद्यपि नाटक इन के हैं सुन्दर। साहित्याचार्य पं० अम्बि
दत्त व्यास ने नाटकों में नियमनियंत्रित व्यवस्था
साहित्यिक सुन्दरता के सुचारु समावेश का प्रयत्न कि
और ललिता नाटिका (वेणी संहार) तथा गोसंकट
नाटक रचे। आपके उपरान्त साहित्यिक नाटकों की ओर
लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और उनकी भी रचना हो
लगी।

यहां हमें यह भी कह देना उचित जान पड़ता है कि भा
के पश्चात् (उन्हीं के अनुकरण रूप में तथा उन

के प्रोत्साहन से) हिन्दी-नाटक-रचना का कार्य दो मुख्य एवं स्वतंत्र रूपों में हो चला १-संस्कृत नाटकों का हिन्दी भाषा में अनुवाद भी होता गया और २—कुछ नवीन (समय, देश-दशा को देखते हुए) विषयों के आधार पर स्वतंत्र एवं मौलिक नाटक भी—यद्यपि बहुत ही अल्प संख्या में—(अंग्रेजी-साहित्य से प्रभावित होते हुये) बनते गये। प्रथम प्रकार के अनुवादित नाटकों में से मुख्य हैं—मृच्छकटिक, लाला सीताराम कृत संस्कृत से हिन्दी में अनुवादित कई नाटक, पं० सत्यनारायण "कविरत्न" से अनुवादित उत्तर राम चरित और मालती माधव आदि। इस के साथ ही साथ बंगला तथा अंग्रेज़ी के भी नाटकों का अनुवाद हिंदी भाषा में होने लगा और कुछ समय के लिये अनुवाद-कार्य की ही वेगवती प्रगति रही। श्रीद्विजेन्द्रलाल राय तथा गिरीश घोष से बंगला-नाटक अनुवादित होकर प्रकाशित हो गये।

इस अनुवाद - प्रधान काल में मौलिक नाटकों की रचना उठही न सकी, केवल अभी थोड़े ही दीनों से काशी के बा० जयशंकर प्रसादजी गुप्त ने द्वितीय रूप के मौलिक नाटकों की रचना की ओर ध्यान दिया है और अजातशत्रु, जन्मेजय तथा विशाख आदि नाटक रच कर प्रकाशित कराये हैं, और इस प्रकार बा० राधाकृष्ण दास आदि मौलिक नाटककारों का अनुकरण किया है।

यहाँ हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि नाटक-रचना के प्रारम्भिक काल में जो नाटक अनुवादित हुये थे, उन में

प्रायः ब्रजभाषा से प्रभावित हिन्दी का ही प्राधान्य रहता था। भारतेन्दु बाबू ने इस शैली के स्थान पर खड़ी बोली का उपयोग किया और इस प्रकार नाटकों से स्वतंत्र, देश-कालोपयुक्त उपयोगी विषयों के अनुकूल प्रचलित भाषा का प्रचार किया। किन्तु इसी के साथ ही साथ दूसरी ओर ऐसे नाटकों का भी प्रचार हो चला जो नाटक-कंपनियों के द्वारा साधारण जनता के लिये (तथा अपने व्यापार-व्यवसाय के लिये भी) रंगमंचों पर विशेष बाह्य सौंदर्य (परदे, चित्र, रोशिनी व वस्त्रादि) के साथ खेले जाते थे, और जिनमें कथानक (नाटक की कथावस्तु) चरित्र-चित्रण, रस (भाव-भावना) एवं आदर्श आदि को विशेष प्रधानता न दी जाकर घटना-वैचित्र्य एवं कौतुक-कुतूहल को ही विशेषता दी जाती है, और जिनमें इसीलिये उच्चकोटि के नाटक-कौशल तथा साहित्यिक गुण नहीं रहते। इस प्रकार के नाटकों में उर्दू भाषा का विशेष प्रयोग रहता था, और इन के गद्यात्मक वार्तालाप में भी सतुकान्त पद्यवत्ता सी अभासित होती थी। इन दोनों प्रकार की भाषा-शैलियों के अतिरिक्त श्री जयशंकर प्रसाद आदि साहित्य-सेवी नाटककारों ने नाटकों को न केवल अभिनय-प्रधान ही रक्खा है वरन् उन्हें साहित्यिक रूप देते हुये उच्चकोटि की प्रौढ़ परिमार्जित तथा साहित्यिक खड़ी बोली में लिखना प्रारम्भ किया, जिससे उनमें दोनों गुणों के सुन्दर सामंजस्य से विशेष रुचिर रोचकता, शिष्टता

तथा उत्तमता आ गई है। ये नाटक साहित्य के अंग होकर रंग-मंच के भी प्रशस्त रत्न हो गये हैं।

इन साहित्यिक तथा उत्तम नाटकों में वस्तु-चित्रण, आदर्श-चरित्र-शिक्षण, भाव-भावनोत्कर्ष प्रकाशन, रसोत्तेजन तथा कथानक-सुविधान का पूर्ण ध्यान रक्खा जाता है। इनमें एक नवीन बात जो और विशेष उल्लेखनीय हुई है, यह है कि इनमें पद्य तथा संगीत का पूर्णरूप से वहिष्कार कर दिया गया है, क्योंकि नाटक में सभी स्थानों पर इनका रखना अस्वाभाविक तथा निरर्थक ही सा होता है, हां जहां इनका रखना स्वाभाविक तथा प्रसंगानुकूल होता हुआ सर्वथा अनिवार्य या आवश्यक ही हो वहां इन्हें रखना उपयुक्त ही है। इसीके साथ (इसी कारण) अभिनय में भी संगीत के सहचर रूपी नृत्य को भी अब पूर्णतया तिलांजलि देदी जाती है, जब तक जहाँ और जिस समय पर अनिवार्य रूप से हो उसकी उपयोगिता या उपयुक्तता नहीं होती। यदि कहीं ऐसा ही अवसर आ जाता है कि संगीत एवं नृत्य को रखना ही समीचीन ठहरता है तब इन्हें अवश्यमेव स्थान दे दिया जाता है।

इस प्रकार अब भाषा में वह उर्दू शैली वाली पद्यवत्ता या तुकान्तता नहीं रक्खी जाती, वरन् अब भाषा सर्वथा व्यावहारिकता, तथा स्वाभाविकता लिये हुये सर्वथा प्रयोगानुकूल रहती है। उसमें भावपूर्णता, सुगठित यथाक्रमता और नियंत्रित सुव्यवस्था रहती है। प्रसाद एवं अन्य आवश्यक

तथा प्रसंगात् कुल गुणों को इसमें प्रधानता दी जाती है तथा उसे शुद्ध खड़ी बोली के ही रूप में रखा जाता है।

इन बातों के साथ ही साथ यदि पात्रों के अनुकूल ही भाषा के रूपों का उपयोग नाटकों में किया जाने लगे तो और भी अच्छा हो। इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं कि यदि किसी नाटक में कोई चीन देशीय पात्र आ जाये तो वह चीन देश की बोली बोले। यह विषय अभी यहां के नाटकों में इस लिये नहीं उठता कि अभी हमारे नाटक इतने विश्वव्यापक रूप में नहीं हो गये हैं। साथ ही यह विषय अभी विवाद-ग्रस्त भी है कि पात्रों के अनुसार भाषा हो या न हो। हम समझते हैं कि जहां तक भारतीय पात्रों का प्रसंग हो वहां तक तो हमें भाषा को पात्रों के अनुसार ही रखना उचित होगा, क्योंकि ऐसा न करने से भी स्वाभाविकता तथा सुन्दरता में बाधा पड़ती है। यदि कोई पात्र नौकर के रूप में देहात से आता है तो वह देहाती ही भाषा में बोले और यदि कोई पात्र मुसलमान तथा शरीफ़ है तो वह अच्छी स्पष्ट एवं सुबोध उर्दू का उपयोग करे। हिन्दी के नाटकों में अभी हम बंगाली, महाराष्ट्र एवं पंजाबी आदि पात्र रखने नहीं जा रहे, और न ऐसा करना अभी उचित ही जान पड़ता है, जब तक कि हमारी हिन्दी एक राष्ट्र भाषा के रूप में होकर सर्वभारत-व्यापी होती हुई सभी प्रान्तों में प्रचलित एवं सुबोध न हो जावे, देखें यह दिन कब आता है।

नाटकों में अभिनयार्थ संकेत

नाटक-ग्रंथों में एक यह शैली भी रचना का एक अंश बन गई है कि नाटकों के स्थान स्थान पर आवश्यकतानुसार अभिनय करने में सुविधा लानेके विचार से कुछ सांकेतिक पदों का व्यवहार किया जाता है। इस अभिनय-संकेतदायिनी शैली का प्रचार हमारे यहां संस्कृत नाटकों में ही प्राचीन काल से चला आ रहा है। इसका प्रारम्भ कदाचित इसीलिये किया गया होगा जिससे अभिनय करने वाले पात्रों को अभिनय करने में सुविधा हो। नाटककार जैसे दृश्य एवं अभिनय आदि का प्रदर्शन कराना चाहता है ठीक वैसा ही प्रदर्शन अभिनेताओं के द्वारा किया जा सके। प्रथम तो सम्भवतः यह कार्य सूत्रधार या स्थापक के ही हाथ में रहा होगा और फिर उनके हाथों से निकाल कर कवियों ने स्वतः अपने ही हाथों में इसे इसीलिये ले लिया होगा जिससे उनके ही अभीष्ट विचारानुसार अभिनयादि की व्यवस्था सुचारुता से हो सके। कदाचित प्रथम सूत्रधार एवं स्थापक आदि पर्याप्त रूप से चतुर और सुपठित रहते थे। इसकी पूर्ण व्यवस्था वे नाटक पढ़कर स्वयमेव कर सकते थे, और नाटककार को इसकी आवश्यकता न रह जाती थी। इस अनुमान की पुष्टि कदाचित इस बात से हो सकती है कि स्थापक या सूत्रधार आकर नाटक, नाटककार आदि का पूर्ण परिचय अपने दर्शकों को देता था तथा ब्रह्मा व दश दिग्पालादि का सविधि पूजन करता था

ऐसा वह तभी कर सकता था जब वह इसकी पूर्ण योग्यता रखता रहा हो, वह सुपठित तथा चतुर रहता रहा हो।*

नाटकों में इन संकेतों के देने की परिपाटी यह सूचित करती है कि नाटक का मुख्य उद्देश्य रंगमंच पर उसका अभिनय किया जाना ही है, चाहे उसमें कितनी ही साहित्यिक त्रुटियाँ न हों। साथ ही इनसे यह भी सूचित होता है कि प्राचीन काल से ही नाट्यकला व अभिनेता तथा नाटक-रचना व नाटककार सर्वथा पृथक और स्वतंत्र ही होते आये हैं। ज्ञात होता है कि कदाचित अभिनेता गण सुपठित और इस योग्य न होते थे कि वे बिना इन संकेतों के नाटक का अभिनय सफलता के साथ कर सकते रहे हों। यदि वे इतने पठित और योग्य भी हों कि बिना इन संकेतों के ही नाटक का अभिनय अपनी ही ओर से उसे समझ कर पूर्ण सफलता से कर सकें तो भी इनकी आवश्यकता को क्षति नहीं पहुँचती, वरन् ये अनिवार्य ही से ठहरते हैं, क्योंकि इन्हीं से कवि या नाटककार के अभीष्ट भाव प्रदर्शित होसकते हैं।

---

*नोट:—पाश्चात्य देशों में नाटककार को ही नाटक खेलनेवालों के साथ रहकर अपनी इच्छानुसार अभिनयादि के करानें के लिये उन्हें उचित परामर्श एवं संकेत देने पड़ते थे। शेक्स-पियर आदि ऐसा ही करते थे। प्राय. ये लेखक और अभिनेता भी होते थे।

नाटकीय-संकेत-भेद

नाटकीय संकेतों को हम मुख्यतया प्रथम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं. १—ऐसे संकेत जो नाट्यकला-कौशल (अभिनय) से ही सम्बन्ध रखते हैं, और जिनका रूप व्यवहारिक होकर अभिनेताओं की ही इच्छा पर निर्भर रहता है। २—ऐसे संकेत जो नाटक-रचना से सम्बन्ध रखते हैं और जिनका रूप नाटककार की ही स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर रहता है।

प्रथम प्रकार के संकेतों की रचना सूत्रधार (Stage manager) या कोई अन्य प्रधान अभिनेता, जो नाटक-कौतुक की व्यवस्थादि का विधायक होता है, करता है, और ऐसा करने में वह पूर्ण स्वतंत्र रहता है। द्वितीय प्रकार के संकेतों की रचना नाटककार अपनी इच्छानुसार अभिनय कराने के लिये अपने नाटक-ग्रंथ में स्थान स्थान पर कोष्टकों के अन्दर या यों ही रखते हुये करता है। हम यहां पर द्वितीय प्रकार के ही संकेतों की विवेचना करना उचित समझते हैं। हमें प्रथम यह दिखलाना है कि संकेत कितने प्रकार के होते हैं और उनका उद्देश्य क्या होता है।

संकेतों के रूप

संकेतों के प्रायः निम्नांकित मुख्य रूप होते हैं :—

१—यथोचित वेषभूषा, एवं वाह्योपकरणों को सूक्ष्म रूप

एवं भावनायें दर्शकों के लिये स्पष्ट नहीं की जा सकती) नमस्कापित आदि।

इसी का एक विशेष भेद वह है जिसमें वक्ता के विशेष प्रकार के स्वर, कथन के समय की विशेष क्रियाओं तथा अन्य प्रकार की आवश्यक बातों की सूचनायें संनिहित रहती हैं, यथा—गद्गद् एवं वाष्पावेग से मंदीकृत स्वर में, सिसक सिसक कर, माथा ठोंककर, कातर स्वर से, आवेश के साथ, पदाघात कर गंभीर एवं विषम स्वर से, मुसकुराकर मृदुल वाणी से इत्यादि—

३ वक्ता की कथन-गति के भी सूचित करने के लिये कभी कभी संकेत दिये जाते हैं—यथा शीघ्रता में, तनिक रुक या रुक रुक कर, अव्यक्त एवं अस्पष्ट वाणी से,

४—दृश्यादि सम्बन्धी विशिष्ट बातों के सूचक संकेत—इनके द्वारा, समय, स्थान, एवं परिस्थिति आदि की सूचना दी जाती है यथा—स्थान-तपोवन, कन्व का आश्रम, चलते समय, मंत्रियों की सभा में। इस प्रकार के संकेतों से मंच की व्यवस्था आदि के प्रबंध करने वाले, दृश्य तैयार करने वाले तथा उनमें रूपान्तर करने वालों को सूचना मिलती है। और वे इन्हीं के अनुसार रंगमंच पर दृश्यादि का व्यवस्था-विधान रचते हैं।

अभी इन्हीं संकेतों के साथ कुछ अन्य आवश्यक संकेत और भी हो सकते हैं, जिनका रखना नाटककार के लिये

आवश्यक है, किन्तु अब तक साधारणतया नाटककार उन्हें नहीं रखा करते, और उनके देने की परिपाटी ही नहीं प्रचलित की गई। जिस प्रकार अभीष्ट अभिनय के लिये उक्त संकेतों का देना आवश्यक है उसी प्रकार अभीष्ट वेष-भूषा आदि के लिये भी आवश्यक संकेतों का देना उचित ठहरता है। नाटक में जितने पात्र हों उनके उपयुक्त ही वेष-भूषादि का आयोजन कराना तथा एतदर्थ संकेत देना नाटककार के लिये आवश्यक जान पड़ता है। नाटककार ही को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह किस विशेष समय, समाज एवं देश आदि के पात्रों को एकत्रित कर रहा है और उस समय, समाज एवं देश में कैसा पहनाव, आचार-विचार, रीतिरस्म आदि का विधान माना गया है। इन बातों को जान कर उसे इन्हीं के आधार पर अभिनेताओं को समुचित संकेत भी दे देना चाहिये। ये संकेत हमारी समझ में नाटक के पूर्व प्राक्कथन के या नाटक के अंत में परिशिष्ट के रूप में दिये जाने चाहियें, नकि नाटक के प्रसंगादि में। इन्हीं के साथ उसे अपने अभीष्ट दृश्यादिकों की यथोचित साज-समान-सामग्री आदि भी उनकी सुव्यवस्था के संकेतों के साथ बतला देनी चाहिये ताकि रंगमंच के व्यवस्थापक, व दृश्य-रचयिता चित्रकारादि को सुविधा हो सके।

पाश्चात्य लोगों ने इस प्रकार के संकेतों का देना प्रारम्भ कर दिया है, किन्तु वे लोग नाटक की कथा-वस्तु के साथ

ही साथ प्रसंगानुसार इन संकेतों को रखते हैं, जिससे उनके नाटक एक विशेष रूप में परिवर्तित हो कर एक प्रकार से नाटकोपन्यास से ही प्रतीत होने लगते हैं। उपन्यासकार इन सब संकेतों को स्पष्ट रूप में विस्तार के साथ रुचिर-रोचक भाषा में अपने कथानक में ही सजाता चलता है। नाटक-कार के लिये ऐसा करना उचित नहीं जंचता, अस्तु।

इन संकेतों के साथ यदि नाटककार कुछ ऐसे विशेष एवं आवश्यक संकेत भी दे दे, जिनमें कथा प्रसंग एवं उसके रस भाव तथा अनुभावादि के प्रकाशित करने में पात्रों को सहायता मिल सके, तो बहुत ही अच्छा हो। यथा किसी पात्र के करुण-भाव तथा प्रसंगानुसार तत्सहायक या सहचर अश्रुपात, कंठावरोध, सिसकना, माथा ठोंकना, छाती ठोंकना, आदिक अनुभावों को प्रकट करते हुये अपना क्रंदन दिखलाना है तो उसे इनका संकेत प्राप्त होजाना अति सुविधा-जनक तथा आवश्यक या सहायक सा होता है। यदि नाटककार अपनी इच्छा के ही अनुसार इस प्रकार के रस एवं भावादि को प्रकाशित कराना चाहता है तो उसे यह आवश्यक है कि वह इनका संकेत किसी न किसी रूप में अपने अभिनेताओं को दे दे। हमारी समझ में यह संकेत-विधान सर्वथा समीचीन तथा आवश्यक ही है, अस्तु। अब हम यहां यह भी बतला देना आवश्यक एवं अच्छा समझते हैं कि नाटक का साहित्य से क्या सम्बन्ध है तथा इसमें और भिन्न २ विषयों के तत्वों का समावेश पाया जाता है।

नाटक और साहित्य

साहित्य शब्द प्राचीन समय में काव्य एवं काव्य शास्त्र के ही अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। जैसा हमने प्रथम ही लिखा है, नाटक को काव्य-श्रेणी में अच्छा स्थान प्राप्त हो गया था इसी लिये नाटक को एक उच्चकोटि का साहित्यांग भी मानते हैं। नाटक में काव्य के प्रायः सभी अंग या तत्व न्यूनाधिक रूप में पाये जाते हैं, कह सकते हैं कि नाटक काव्य से भी अधिक गुण-सम्पन्न साहित्य है, क्योंकि इसमें संगीत, अभिनयादिक तत्व साहित्य से और विशेष हैं और इनके कारण इससे काव्य के समान न केवल मन को ही अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है वरन् कानों व नेत्रों आदि को भी अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। इसमें सजीवता, स्वाभाविकता, तथा प्रत्यक्षानुभवता का आनन्द भी पुंजीभूत होकर उसे द्विगुणित कर देता है। काव्य में केवल छंद या पद्य ही प्रधान रहता है किन्तु इसमें पद्य के साथ ही साथ संगीत (या संगीतात्मक छंदों) वार्तालाप (गद्य) या कथोपकथन का भी सुन्दर सामंजस्य रहता है, इसीलिये इसमें काव्य से भी अधिक रोचकता आ जाती है, यह गद्य-काव्य एवं पद्य-काव्य का एक सुन्दर सङ्गम है। इसमें काव्य को साकारता एवं सजीवता सी प्राप्त हो जाती है और प्रत्यक्षानुभव का सा आनन्द भी प्राप्त होता है, इसीलिये इसे दृश्य काव्य की संज्ञा दी गई है और कहा गया

है :—

"काव्येषु नाटकं रम्यम्"

अस्तु, नाटककार न केवल एक कुशल कवि ही है वरन् वह एक संगीतज्ञ गद्य लेखक भी है।

नाटक के सभी तत्वों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि नाटककार का कार्य एक साधारण काव्यकार से कहीं अधिक गुरुतर है। नाटककार के लिये न केवल साहित्य-पटुता की ही आवश्यकता है वरन् उसके लिये आवश्यक है पटु होना अन्य कई विषयों में भी। पात्रों के अनुकूल भाषा के भिन्न २ रूपों का प्रयोग करने के लिये उसे भाषाओं से पूर्ण परिचय प्राप्त करना चाहिये और इस प्रकार उसमें भाषा-विज्ञान (Philology) का भी पर्याप्त ज्ञान होना चाहिये। भिन्न भिन्न भाषाओं के व्याकरणों, उनके गद्य-पद्य की शैलियों, नियमों तथा व्यवस्थादिकों का भी पर्याप्त ज्ञान और उनमें अभ्यास का होना उसके लिये आवश्यक है।

काव्य-कौशल के साथ ही साथ उसमें वचन-विदग्धता रचना-चातुरी, विश्लेषण-संश्लेषण-कुशलता, व्यवस्था-विधान (वाक्य-विन्यासादि) एवं यौक्तिक क्रम देने में योग्यता का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। चित्रकला तथा संगीतकला का भी उसमें पर्याप्त मात्रा में होना अच्छा है। कल्पनादिक के बिना तो यह कुछ कर ही नहीं सकता।

कथा-वस्तु की प्राप्ति के लिये उसे समाज, साहित्य, और पुराणेतिहासादि से भी यथोचित परिचय प्राप्त होना

चाहिये। कथा-वस्तु का आधार प्राप्त कर उसे अपने विशेष उद्देश्य या आदर्श के अनुसार अपनी कुशल कल्पना के द्वारा एक विशेष रोचक रूप के देने में उसे प्रौढ़ रचना-चातुरी से काम लेना पड़ता है। देश तथा समाज के भिन्न २ समयों के इतिहासों का उसे प्रौढ़ ज्ञान रखना तो आवश्यक है ही, साथ ही उसे सामाजिक आचारों-विचारों, रीतियों नीतियों, धार्मिक रस्मों एवं व्यवहारों आदि का भी पूर्ण लौकिक ज्ञान होना चाहिये।

चारु चतुर चरित्र-चित्रण के लिये उसे यह अनिवार्य एवं आवश्यक ही है कि वह सदाचार शास्त्र या चरित्र-दर्शन (Moralcapthics) का पर्याप्त अध्ययन करे और धर्म शास्त्र के साथ उसका सामंजस्य करता हुआ समाज के आदर्श पुरुषों के जीवन-चरित्रों का मनन करे।

रस, भाव तथा नायक-नायिका आदि को चित्रित करना तभी उसके लिये सरल साध्य होगा और इनके प्रकाशित करने में तभी उसे सफलता मिल सकेगी जब उसने मनो-विज्ञान एवं प्रकृति-निरीक्षण में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली हो। इन सब विषयों के ज्ञान के साथ ही साथ पूर्ण ज्ञान प्रत्येक नाटककार को होना चाहिये काव्य शास्त्र तथा व्याकरण का, क्योंकि जब तक इनका पूर्ण ज्ञान उसे न होगा तब तक वह काव्यात्मगुणयुक्त उत्तम नाटक की रचना सफलता के साथ न कर सकेगा, अस्तु।

उक्त लेख से यह तो स्पष्ट ही हो चुका होगा कि नाटक-रचना का सम्बन्ध मनोविज्ञान, चरित्र-दर्शन, एवं काव्य-शास्त्रादि से बहुत ही घनिष्ट एवं अनिवार्य है। यहां यह भी कह देना अनुचित न होगा कि इसी प्रकार नाट्यकला का सम्बन्ध न्यूनाधिक रूपमें १-चित्रकला, २-संगीतकला, ३-नृत्य एवं वाद्यकला तथा ४-अभिनय कला से भी है। इन सब कलाओं की सहायता नाट्यकला के लिये अनिवार्य रूपसे ही आवश्यक है। अभिनेताओं को इन सब का पर्याप्त ज्ञान तो होना ही चाहिये, साथ ही उनमें स्वर एवं मनोविज्ञान की भी अच्छी कुशलता होनी चाहिये।

सारांश यह है कि नाटक का सम्बन्ध कई प्रधान एवं आवश्यक विषयों (विज्ञानों) से है, और उन सब की इसमें सहायता अनिवार्य है। इन सभी विषयों के मूल तथा प्रधान तत्त्व इसमें संश्लिहित हैं। इसीलिये कुछ विद्वानों ने नाटक को साहित्य का सब से श्रेष्ठ भाग कहा है (Drama is the best part of literature) और इसी से इसकी रचना करने में एक बहुत ही विशेष योग्यता (बहुज्ञता) की आवश्यकता रहती है।

नाटक और समाज

नाटक की महत्ता-सत्ता इसीलिये और विशेष रूप से बढ़ जाती है चूंकि यह एक दृश्य एवं अभिनयपूर्ण काव्य है। काव्य का उतना प्रभाव जनता के मन पर नहीं पड़ता जितना

नाटक का, क्योंकि साहित्यिक या साधारण काव्य केव
सुना या पढ़ा ही जाता है और वह साधारण जनता के
साधारण समझ में इतनी सरलता, स्पष्टता और शीघ्रता से
नहीं आता तथा इतनी देर तक नहीं ठहरता जितनी सरलता
स्पष्टता, एवं शीघ्रता से समझ आकर एक नाटक साधारण
लोगों की साधारण समझ में भी देर तक ठहरता है। इसका
कारण यही है कि यह, चूंकि आंखों के सामने साकार एवं
सजीव रूप में चित्रित होता है, अपना प्रभाव कानों, आंखों
तथा बुद्धि के द्वारा मन या हृदय पर डालता है।

अस्तु, इसकी रचना करना तथा इसका कौतुक करना एक बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण शुभतर कार्य है। इसके द्वारा नाटककार समाज को भले या बुरे जिस मार्ग पर वह चाहे, लेजाने में बहुत शीघ्र सफल होता है।

इसमें चूंकि हृदय-तत्व प्रधान रहता है (विवेक-तत्व कम प्रधान रहता है) इसीलिये यह हृद्गत भावनाओं (Feelings) और भावों (Ideas or Emotions) को आवेश के साथ शीघ्र ही समुत्तेजित कर देता है और अपने रसोत्कर्ष से एक चिरस्थायी रसोद्रेक को उत्पन्न कर देता है।

इसकी एक विशेष प्रकार की अभिनय-सजीवता एवं साकारता के प्रत्यक्षानुभाव के कारण मानव-मानस शीघ्र ही प्रबलता के साथ चिरकाल के लिये प्रभावित हो जाता है। ऐसी दशा में नाटककार का यह एक सर्व-प्रमुख कर्तव्य है कि

वह ऐसा नाटक जनता के सम्मुख उपस्थित करे जिसका प्रभाव सब प्रकार अच्छा ही पड़े। उसे ध्यान रखना चाहिये कि इसी विचार से भरत मुनि आदि नाट्य शास्त्र के प्रातस्मरणीय आचार्य-प्रवरों ने नाटक में आदर्शवाद को ही सब प्रकार प्रधानता एवं प्रबलता दी है। नाटककार को यह स्वतंत्रता अवश्य है कि वह अपनी रुचि के अनुसार एक विशेष उच्च आदर्श चुन ले और उसे ही सदा अपने ध्यान में आगे रखकर अपनी समस्त कथा-वस्तु के विन्यास की सुव्यवस्था करे। उसे सर्वत्र, सर्वदा तथा सर्वथा ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिये जिससे उस आदर्श का पूर्ण चित्रण हो सके और उसका पूरा प्रभाव दर्शकों या पाठकों पर पड़ सके। इसी प्रकार उसे अपने आदर्श चरित्र को गहरे रंगों से यथोचित उत्कर्ष के साथ चित्रित करना चाहिये। हां ऐसा करते हुये उसे स्वाभाविकता, तथा वास्तविकता आदि के सद्गुणों का भी पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। सदाचार, सद्गुण, सद्धर्म तथा सच्चरित्र की सदैव ही विजय, सिद्धि तथा समृद्धि और इनके विपरीत गुणादिकों का पराभव एवं पतन यों दिखाना उचित है जिससे जनता सद्गुणों का ग्रहण करे और दुर्गुणादि का त्याग करे। सदा सच्चरित्रता के ही चित्रों को देखने से जनता की प्रवृत्ति स्वभावतः उसी की ओर दृढ़ता से झुक जावेगी और वह उन्नत तथा आदर्श रूप हो सकेगी।

इसी के साथ ही उसे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि उसका कथानक, भाव-समुदाय तथा वाक्य-विन्यास सभी

शिष्ट, सभ्य, रुचिर एवं रोचक रहे। मनोरंजन तो नाटक का एक विशेष तथा प्रधान लक्ष्य है, इसलिये कथानक को सदैव ही ऐसा रखना चाहिये कि उससे सदुपदेश प्राप्त करने के साथ ही चित्ताकर्षक आनन्द भी प्राप्त किया जा सके। सत्यं, शिवं, सुन्दरम् तथा सत्य, ज्ञान और आनन्द की अच्छी पुट नाटक में होनी चाहिये। जीवन का मुख्य लक्ष्य आनन्द ही का प्राप्त करना है, इसीलिये हमारे आचार्यों ने नाटक को सदा सुखान्त ही रखना उचित कहा है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि नाटक में जीवन का सच्चा, स्वाभाविक तथा संसारानुकूल (देश, काल तथा, समाज के ही अनुकूल) चित्रण होना चाहिये, संसार में जीवन अपने जिन २ रूपों में (चाहे ये रूप भले या बुरे कैसे ही क्यों न हों) पाया जाता है उन्हीं उन्हीं का सच्चा चित्रण पूर्ण स्वाभाविकता या वास्तविकता के साथ होना उचित है। इससे मनुष्य को संसारिक जीवन के रूपों का, उनके फलाफलों तथा प्रभावादिकों के साथ, पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है, और वे अपने जीवन को उन्हीं में से किसी एक रूप के आधार पर बनाने का प्रयत्न करते हैं। विचार तो अच्छा है परन्तु यदि इसी के साथ आदर्शवाद की पुट देकर इसे और संकीर्ण रूप देते हुये केवल आदर्श एवं सुजीवन में सीमित कर दिया जावे तो अच्छा हो। पाश्चात्य नाटककार इसीलिये नाटक को विरोधमूलक रखकर सुखान्त एवं दुखान्त दोनों रूपों में रखते हैं। हमारी

समझ में दोनों विचार अपने अपने ढंगों में ठीक हैं। सारांश यही है कि चूंकि नाटकों का बहुत बड़ा प्रभाव समाज पर पड़ता है और समाज से नाटकों का घनिष्ट सम्बन्ध है, इस लिये इनकी रचना करने में नाटककार को अपने उत्तरदायित्व का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये, अस्तु।

अब हम संक्षेप में यहां प्रसंग-प्रार्थना-वश, पाश्चात्य नाटकों का कुछ आवश्यक किन्तु सूक्ष्म विवेचन करके उनका वह प्रभाव दिखलाना उपयुक्त एवं उपयोगी समझते हैं, जो हमारे हिन्दी-नाटकों पर पड़ा है।

पाश्चात्य नाटक

पाश्चात्य देशों में से सब से प्रथम, यूनान में ही नाट्य-कला तथा नाटकों का उदय या विकास हुआ था। यूनान वालों ने स्वयमेव इसका आविष्कार नहीं किया, सम्भवतः उन्हें यह कला भारत से ही प्राप्त हुई, हां सम्भवतः इसका विकास उन्होंने अपनी ही ओर से स्वतंत्र रूप में किया है। वहां भी, भारत के ही समान, इस कला का उदय धार्मिक उत्सवों से (जिनमें से डायोनिसस नामी देवता के, जो हमारे शंकर जी के ही अनुरूप माना जाता है, उपलक्ष में होने वाला उत्सव प्रधान था) हुआ था। ये उत्सव राजा की ओर से दिन में वसंत के आदि, मध्य या अवसान काल में ही हुआ करते थे। दर्शक बिना शुल्क के ही इनसे आनंद प्राप्त कर सकते

थे, उन्हें अपनी ओर से अपने बिछौने आदि का प्रबंध करना पड़ता था। ये उत्सव नाटक के प्रारम्भिक रूप ही कहे जा सकते हैं। वास्तव में सर्वाङ्गपूर्ण नाटकों का प्रचार यहाँ ईसवी शताब्दी के ४ या ५ सौ वर्ष पूर्व ही हुआ है।

यूनान में प्रथम नृत्य-गान के साथ सैनिक-कृत्यों का मामूली अभिनय होता था, आगे चल कर कवि-मंडली से इन्हें सहयोग-साहाय्य प्राप्त हुआ। फिर इसके कई रूप हुये, उनमें जो एक सब से प्रधान है वह है जिसे (Tragedy) या अजा गीत कहते हैं, इसमें पात्र अर्ध मनुष्य और अर्ध पशु (विशेष तया बकरी) के रुप में अभिनय करते और गाते थे। डायोनिसस के ही अनुकरण का परिणाम हम इसे कह सकते हैं। हमारे नरपशु रूपी गणेश एवं नरसिंह आदि देवताओं के ही समान यूनानी लोग डायोनिसस में बैल, बकरी और मनुष्य के रूपों का समावेश माना करते हैं।

इसी आधार पर यूनान में प्रथम बकरी का चर्म पहना जाता था, और यत्र तत्र अब भी उसका उपयोग होता है। हमारी रासलीलाओं के समान वहाँ भी कुछ लीलायें होती हैं।

डायोनिसस के ही समान एक दूसरे पशुरूपधारी नामी स्थान-विशेष संबंधी देवता के भी उपलक्ष में कुछ धार्मिक उत्सव, जिनमें इन देवताओं की विपत्ति पूर्ण जीवन-घटनाओं या लीलाओं का प्रदर्शन होता है, होते थे। इनमें मुक्ति कहीं कठिनाइयों एवं दुःखादि पूर्ण घटनाओं के ही अभिनयों का

बाहुल्य तथा प्राधान्य रहता था, इसी से यूनानी नाटकों में करुणा रस का प्राधान्य रहता है और वे दुखान्त (Tragedy) रूप में होते हैं। वास्तव में इनका अन्त दुख-पूर्ण नहीं होता वरन् विजय-श्री-सौख्य पूर्ण ही होता है, हां मध्यभाग में दुख का ही पूर्ण प्राधान्य या प्राबल्य रहता है। इन्हीं नाटकों के आधार पर यूरोप के अन्य देशों में भी दुखान्त नाटकों का उदय एवं विकास हुआ है।

दुखान्त नाटकों का वास्तविक उदय या विकास होमर के इलियड नामी काव्य के ही आधार पर हुआ है। प्राथमिक उत्सव या नाटक सम्बन्धी नृत्य-गीत के साथ वह कथोपथन भी रख दिया गया जिसका आधार यही इलियड काव्य था। अस्तु, यूनानी नाटक अजागीत और इलियड के मिश्रित रूप हैं।

कहा जाता है कि ईसा से ६०० वर्ष पूर्व थेस्पिस नामी एक कवि ने सब से प्रथम ७ दुखान्त नाटकों की रचना की। वे दो अन्य व्यक्तियों के साथ एक गाड़ी पर किसी देवता का रूप धारण कर गाते, वार्तालाप करते तथा अभिनय दिखलाते फिरते थे। इनके प्रचार एवं विकास के समय में कथोपकथन की मात्रा इनमें बढ़ने और गीतादि की मात्रा घटने लगी।

इस प्रकार से दुखान्त नाटकों का रूप एवं विकास हुआ, इन्हीं के साथ ही हमारे होलिकोत्सव के समान एक अन्य विशेष अश्लील उत्सव के आधार पर यूनान में सुखान्त

नाटकों का उदय हुआ। इसके जुलूस में लोग पुरुषेन्द्रिय-चिन्ह को लेकर ऐसे अभ्यश्लील गीत गाते थे जिनमें उसकी प्रशंसा हास्य के साथ प्रधान रूप में रहती थी।

इसमें मेसिनिओ नियासी सुसेरियन नामी एक व्यक्ति ने सुधार या संस्कार किया, और इसे कुछ परिवर्तित करके इसको अश्लीलता को संकीर्ण या न्यून करके परिष्कृत तथा शिष्ट बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया। उसके पश्चात मेईसन, टालिनस आदि कुछ व्यक्तियों ने इसमें और भी सुधार किया।

सिकंदर के समय तक तो दुखान्त नाटक ही प्रधान रहे। और उक्त सुखान्त या प्रहसन (Comedy) पूर्णतया प्रचलित न हो सके। कहना चाहिये और जैसा कहा भी गया है, कि उक्त सुखान्त नाटकों के मुख्यतया ३ विशेष युग हैं: प्रथम युग: विशेष अश्लीलता, भांडपन और उपहास के साथ ३९० वर्ष पूर्व ईसा तक रहा, इसमें पशुपक्षियों के स्वांग में ऐतिहासिक, सामाजिक और राजकीय पुरुषों का उपहास होता रहा, अतः राज्य के द्वारा इनको बंद कराया गया।

जैसा लिखा जा चुका है, कतिपय कवियों ने इनसे अश्लीलता सम्बन्धी बातों को दूर करने वाले सुधारों के लाने का सफल प्रयत्न किया, बस इस प्रकार इनमें नवीन बातों के कारण विकास हो गया। मध्य काल में ये कुछ परिष्कृत रूप में आकर शिष्टता की ओर बढ़े। नवीन युग में सुखान्त नाटकों

में शृंगार और प्रेम पूर्ण कथाओं का समावेश होने लगा। फिलेमन और मनेंडर आदि इसके प्रचारक या प्रवर्तक माने जाते हैं।

रोम में यह कला यूनान से ही गई है, क्योंकि रोम वालों ने यूनान पर विजय प्राप्त की थी और वहां की अनेक वस्तुओं एवं बातों के साथ इसे भी वे ले आये थे। यहीं से इसका प्रचार-प्रस्तार यूरोप के अन्य देशों में हुआ है।

रोम के नाटक

रोम का प्रथम नाटक ईसा से २४० वर्ष पूर्व एक विजय की खुशी में हुआ, इसमें दुखान्त एवं सुखान्त दोनों रूपों का प्रदर्शन किया गया। एड्रोनिकस नामी एक यूनानी कवि या लेखक ने इनकी रचना की थी। रोम के अन्य नाटक यूनान के नवयुग वाले नाटकों के ही आधार पर बने, उनमें विशेषता यही थी कि उनमें राष्ट्रीयता का प्राधान्य रहता था, यूनान के समान उनमें धार्मिक भाव प्रधानता न पाते थे। कहा जाता है कि रोम की प्रथम स्थायी रंगशाला का, जिसमें १८००० आदमी बैठ सकते थे, निर्माण ईसा से ५५ वर्ष पूर्व हुआ था।

रोम में सभ्यता एवं ऐश्वर्यादि के साथ ही साथ नाट्य-कला का भी विकास हुआ, किन्तु लगभग ईसवी ४ थी शताब्दी के मध्यकाल से इसका ह्रास होने लगा, क्योंकि उसी समय से वहां ईसाई पादरियों का आतंक बढ़ने लगा और उनके

द्वारा नाटकों की अवहेलना एवं उनका तिरस्कार किया जाने लगा। इसका मुख्य कारण यह था कि रंगशालाओं में रोमन लोगों ने निर्दयता पूर्ण कौतुकों तथा विलासितोत्पादक खेलों का बाहुल्य कर दिया, जिसका फल साधारणतया बुरा होने लगा। अस्तु, राज्य की ओर से ये नाटक बंद करा दिये गये। इसके कई शताब्दियों के पश्चात ईसाइयों ने फिर यहां धार्मिक और नैतिक नाटकों का प्रारंभ किया। इन्हीं नाटकों का प्रचार बढ़ कर समस्त योरुप में फैल गया।

यूरोप में धार्मिक एवं नैतिक नाटकों का प्रचार रोम से हुआ। कुछ काल के उपरान्त, जब ईसाइयों का बल एवं आंतक कुछ कम हो चला, तब नाटकों में रूपान्तर के साथ प्रबलता भी आने लगी, और सामाजिक नाटक भी किये जाने लगे। शनैः शनैः ईसाई धर्माचार्यों के प्रभाव का ह्रास होता गया और उत्तरोत्तर नटों (अभिनेताओं) नाटकों तथा लेखकों की स्वतंत्रता बढ़ती गई। यूरोप की नव जागृति या पुनरुत्थान के पश्चात नाटक न केवल स्वांगों या रासलीलाओं के ही रूप में रहे वरन् साहित्यिक रूप में भी आ चले, और इसी समय प्रत्येक देश में उनके रूप देशों के ही अनुसार परिवर्तित से हो चले। इटली और स्पेन ने नाटकों का अच्छा विकास किया और उन्हें परिष्कृत करके ऐसा सुन्दर बनाया कि उनका प्रभाव अन्य सभी देशों के नाटकों पर पूर्ण रूप से पड़ने लगा।

इङ्गलैंड के नाटक

अन्य सभी देशों की अपेक्षा इंगलैंड वालों ने नाटक की ओर विशेष ध्यान दिया और उसमें उन्नति भी अच्छी की। मध्यकाल तक तो वहां भी नाटकों की दशा अच्छी न थी। कहना चाहिये कि उनका एक प्रकार से अन्त ही सा हो गया था, क्योंकि प्योरिटन लोग इनके बहुत ही विरोध में थे, अतः अपने प्रभाव के समय में उन्होंने इनका नितान्त ही निषेध कर दिया था।

महारानी एलिज़बेथ के समय से इंगलैंड में नाटकों का उदय हो चला और तब से इनमें निरंतर ही विकास-वृद्धि होती चली आई। आज कल तो इंगलैंड में जैसी प्रौढ़ एवं प्रशस्त उन्नति नाटकाभिनय के क्षेत्र में देखी जाती है, वैसी कदाचित अन्य किसी भी देश में नहीं देखी जाती।

इंगलैंड में प्रथम कुछ नाटक रोमन भाषा (Latin) या लैटिन में लिखे गये, उन्हीं को देख कर कुछ अंगरेज कवियों ने अपनी इंगलिश भाषा में भी कुछ नाटक लिखे। ये नाटक दुखान्त एवं सुखान्त दोनों रूपों में थे। रानी एलिज़बेथ को नाटकों में बड़ा आनन्द आता था: और इसी से उनके द्वारा नाटक-रचना एवं नाट्यकला को यथेष्ट प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, और फलतः दोनों की पर्याप्त उन्नति एवं वृद्धि भी हुई। अंग्रेजों ने नाटकों में राजनीतिक पुट भी लगा दी थी। इंगलिश-

नाटकों में युगान्तर उपस्थित करने वाले प्रशस्त नाटककारों में शेक्सपियर ही सर्वप्रमुख हैं। इसका एक मुख्य कारण यह है कि यह न केवल एक उच्च कोटि का सुकवि एवं नाटककार ही था वरन् एक कुशल कलाविद् अभिनेता (Actor) भी था; इसी से उसके सुखान्त एवं दुखान्त दोनों प्रकार के नाटक ऐसे अत्युत्तम हो सके कि उसके पश्चात फिर किसी दूसरे नाटककार के नाटक वैसे न बन सके। वह भी इंगलैंड का कालिदास होकर अपने नाटकों के कारण सदा के लिये अमर हो गया। आगे फिर जितने भी नाटककार हुये प्रायः वे सब उसी की भाषा, शैली एवं अन्य नाटकीय बातों से पूर्णरूप में प्रभावित हुए हैं।

इंगलिश नाटकों की विकास-वृद्धि को कुछ समय तक स्थगित रूप में ही पड़ा रहना पड़ा। यह समय वह था जब इंगलैंड में गृह-कलह (Civil war) आदि के कारण अशान्ति एवं क्रान्ति फैली हुई थी। धन्यवाद के पात्र हैं वे व्यक्ति, जिन्हों ने ऐसे समय में भी इस कला की रक्षा की और इसे नष्ट होने से बचा लिया, क्योंकि इस पर अनेक प्रकार के कुठाराघात उस समय में हुये थे, और इस पर अनेक बाधायें पड़ रही थीं।

इसकी विशेष उन्नति एवं इसके अभ्युदय का समय आता है उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य काल में। तब से यह कला यहां अनुकरणीय विकास-वृद्धि के साथ आज तक निरंतर ही

उन्नत होती चली आई है और अब विश्व में अप्रतिम ही सी मानी जाती है। देश की वैज्ञानिक एवं कला सम्बन्धी उन्नति का बहुत ही अच्छा प्रभाव इस कला पर पड़ा है और यह इतनी उन्नति को प्राप्त हो गई है। इसी के साथ यहां छाया चित्र-कौतुक (Cinema) की कला का भी अच्छा अभ्युदय हुआ है। वैज्ञानिकों ने अब तो इसमें कथोपकथन का भी समावेश कर दिया है और इस प्रकार इसे यंत्र-कृत नाटक कौतुक का रूप दे दिया है।

यूरुप के अन्य देशों में भी नाटकों का अच्छा प्रचार एवं विकास पाया जाता है। यह सब वहां रोम और ग्रीस के ही कारण हुआ है। पाश्चात्य देशों के नाटकों की दशा का यह सूक्ष्म वर्णन देकर हम यहाँ एशिया के देशों के नाटकों का भी कुछ सूक्ष्म परिचय दे देना उचित समझते हैं। भारत के, जो इस नाटक-कला का सर्व प्रथम एवं प्रधान आविष्कारक या विकासक है, नाटकों का आवश्यक विवेचन हमने प्रथम ही कर दिया है. अब हम उसके पश्चात चीन देश के नाटकों पर प्रकाश डालते हैं। एशिया में चीन का ही देश ऐसा है जो अपनी प्राचीन सभ्यता स्वतंत्र तथा सुन्दर रूप में रखता है और जहां नाटक-कला का, भारत के ही आधार पर या उसी के समान रोचक विकास-प्रकाश हुआ है।

एशिया के अन्य देशों को, उनके जलवायु एवं अन्य प्रकार की नैसर्गिक विशेषताओं के कारण, नाटकानन्द के प्राप्त करने

का सौभाग्य भली प्रकार नहीं प्राप्त हो सका। अरब, एशिया माइनर, फारस, अफगानिस्तान और तुर्किस्तान आदि पश्चिमीय देशों में मुसलमान धर्म के प्राधान्य एवं प्राबल्य के कारण इस कला का अंकुर भी न उग सका, विकासादि का होना तो बहुत ही दूर रहा। उत्तरीय प्रदेशों जैसे साइबीरिया, मंचूरिया आदि, में वहां की शीत जलवायु के कारण नाट्य-कौतुक का पौधा पनप ही न सकता था। अब रहे दक्षिणीय देश जिनकी जलवायु इस कला के लिये उपयुक्त एवं लाभकारी है। इन देशों में नाट्यकला का उदय एवं विकास अच्छे रूप में हुआ है। भारतवर्ष इन सब का गुरू और मुख्य केन्द्र है, यहीं इस कला का (अन्य सब कलाओं एवं विद्याओं के समान) सर्व प्रथम जन्म हुआ और यहीं से यह कला विकसित, विवर्धित एवं विस्तृत होकर अन्य अनुकरणकारी देशों में प्रकाशित एवं प्रचलित हुई।

चीन के नाटक

चीन एक बहुत प्राचीन देश है, और यहां की जलवायु भी ऐसी है जिसमें नाट्यकला का विकास होना स्वाभाविक ही सा है। इसीलिये बहुत प्राचीन काल ही से यहां, हमारे भारत के समान नाट्यकला का उदय, नृत्य एवं संगीत के संयोग से स्वांग और नक़ल के रूप में, फ़सल एवं युद्ध की समाप्ति के समयों पर हुआ था।

यहां अपने इस प्रकार के प्रारंभिक रूप में नाटक बहुत समय तक होते रहे। इनमें वीर-पूजा तथा धर्म के तत्व भी कुछ अंशों में प्रधान रहते थे। विद्वानों का विचार है, और यह वहां के इतिहास से भी ज्ञात होता है कि ईसा से प्रायः ५०० या ६०० वर्ष पश्चात ही वहां नाटकों के शुद्ध तथा सुव्यवस्थित रूप का विकास-प्रकाश हुआ है।

चीनी विद्वानों का कहना है कि इसी समय में सम्राट वान ने सब से प्रथम सुव्यवस्थित नाटकों का प्रारम्भ किया था। किन्तु इस विषय पर अभी मत-भेद है। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि सन् ७२० के लगभग नाटक का प्रथम आविष्कारक (?) या प्रचारक सम्राट हुएन संग हुआ, अस्तु, यही समय ठीक और मान्य है। कुछ भी हो यह अवश्य निश्चित है कि शुद्ध एवं सुव्यवस्थित नाटकों का उदय चीन में ईसवी शताब्दी के पश्चात ही हुआ है और प्रायः उस समय से जिस समय तक भारत में नाटकों का पूर्ण प्रचार, प्रकाश एवं विस्तार हो चुका था, और उनकी पूर्ण उन्नति एवं वृद्धि हो चुकी थी।

भारतीय एवं चीनी प्राचीन इतिहासों से यह स्पष्ट ही है कि चीन में भारत ही से बौद्ध धर्म गया है, और चीन और भारत में उक्त समय से प्रायः १००० वर्ष पूर्व ही से सम्पर्क-सम्बन्ध एवं आवागमन प्रारम्भ हो चुका था। चीन के कई यात्री भारत आ चुके थे, और यहां से बहुत सी बातें (कलायें

या विद्यायें) सीख जा चुके थे। इस आधार पर हम यदि यह अनुमान करें कि चीन में भारत ही से नाट्यकला गई है, तो असंगत न होगा। अस्तु, अश्वघोषादि के प्राचीन संस्कृत नाटक चीन में मिले भी हैं।

विद्वानों ने चीनी-नाट्यकला के विकास-काल को तीन युगों में विभक्त किया है :—

१—प्रथम युग—तांग राजवंश के शासन-काल का है और सन् ७२० ई० से ६६० ई० तक माना जाता है। इस युग के नाटकों के विषय में यह कहा जाता है कि वे सब ऐतिहासिक और वीर-गाथा-पूर्ण ही होते थे, और उनमें युद्धों तथा वीरों के कार्यों का ही प्रदर्शन किया जाता था। इस युग के नाटक अब पूर्णतया अप्राप्त हैं। इस आधार पर हम नाटकों के इस युग को वीर-नाटक-काल कह सकते हैं।

२—द्वितीय युग—यह युग सुंग राजवंश के शासन-काल में सन् ६६० से ११२६ ई० तक चलता है। इस युग के नाटकों में अधिक से अधिक पांच ही नट या अभिनेता (Actor) हुआ करते थे, और नाटकों की कथा-वस्तु गा कर ही सुनाई जाती थी, क्योंकि यह गीत-काव्य की ही सी शैली में गीतों के रूप में लिखी जाती थी। इस आधार पर हम इस युग को नाटकों का गीत-काल या गीतात्मक नाटक काल कह सकते हैं।

३–तृतीय युग—चिन तथा युश्रान राजवंशों के शासन-कालों में यह युग सन् ११२६ से १३६७ तक चलता है, और फिर विकसित हो कर आगे बढ़ता है। इस युग में ही चीनी नाटकों का अच्छा विकास-विस्तार हुआ है और उनमें नवीन श्रीवृद्धि हुई है। इसलिये हम इसे उन्नतकाल कह सकते हैं। चीनी विद्वानों का मत है कि इस युग में जैसे सुन्दर नाटकों की रचना हुई थी वैसे सुन्दर नाटकों की रचना अब तक नहीं हो सकी। इसी युग में न केवल नाटक-रचना की ही विशेष युगान्तरकारी उन्नति हुई थी वरन् नाट्यकला में भी अनेक ऐसी विशेषतायें समुदित हो गई थीं जो आज तक अपने उन्हीं रूपों में सर्वमान्य हो कर चली जा रही हैं।

इस युग में यहां ८५ नाटककारों ने (जिनमें ४ स्त्रियां भी थीं) अनेक विषयों पर अनेक नाटक लिखे, जिनमें से प्रायः ५५० या कुछ और अधिक नाटक अब तक मिलते हैं। ये प्रायः पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, एवं सामाजिक विषयों पर आधारित हैं। इनकी भाषा एवं शैली साधारण है, और इनमें छोटे बड़े सभी प्रकार के पात्रों का समावेश मिलता है। इन नाटकों का विस्तार पांच अंकों से अधिक न बढ़ता था और प्रायः प्रथम अंक में ही कथानक की सूचना विषय-प्रवेश के रूप में दे दी जाती थी। अंकों के बीच में किसी प्रकार का विश्राम भी न रहता था। किसी विशेष शिक्षा या उपदेश को लक्ष्य करके इनकी रचना की जाती थी, इस प्रकार ये सदैव

शिक्षाप्रद होते हुये आदर्श-चित्रण की ओर ही झुके रहते थे। जनता के चरित्र-सुधार का ध्यान इनमें खूब रक्खा जाता था और इसीलिये इनमें सच्चरित्र-शिक्षण की अच्छी पुट रहती थी, और अशिष्टता तथा अश्लीलता का कोई भी अंश इनमें न रहता था। इनका कथानक सर्वथा सरल, साधारण तथा सीधा-सादा रहा करता था, जिससे उसे साधारण जनता भी अच्छी प्रकार समझ सके। यही कारण था कि इनका प्रचार गांवों में भी बहुत अच्छा हो गया था।

नाटकों की इन मुख्य विशेषताओं से चीनी रंगशालायें भी बहुत प्रभावित हुई थीं, और अपनी स्वतंत्र विशेषतायें रखती थीं। सब से मुख्य विशेषता या विलक्षणता यह थी कि रंगशालाओं में परदे (यवनिका) आदि के बाह्योपकरण न रहते थे, इस प्रकार ये बहुत साधारण रूप में रहती थीं; और इसी कारण उनकी रचना, प्रत्येक स्थान या प्रत्येक समय में बहुत सरलता के साथ की जा सकती थी।

प्रथम स्त्रियां भी रंगशालाओं में अभिनय किया करती थीं किन्तु सम्राट् खिनलांग के एक नटी को अपनी उपपत्नी बना लेने के पश्चात से यह परिपाटी उठ गई। यह बात यहां अवश्यमेव विचारणीय है कि चीन की समाज में नाटक करने वाले नटों या अभिनेताओं को अच्छा स्थान न दिया जाता था, वे एक प्रकार के नौकर तथा निम्नश्रेणी के व्यक्ति माने जाते थे। कदाचित् ऐसे ही लोग इस कला में भाग भी लिया करते

थे। यही बात कुछ अंशों में भारत में भी थी, परन्तु प्रथम या प्राचीन काल में ऐसा न था, उस समय इस कला के कुशल व्यक्तियों का बड़ा आदर किया जाता था।

हमारे देश की नाटकोत्पत्ति सम्बन्धी किम्वदन्ती या कथा के अनुसार तो देवताओं और विद्वान ऋषि-मुनियों ने ही इसका आविष्कार एवं विकास किया था। हाँ यह अवश्य है कि फिर धीरे २ नाटक करने वाले (Actor) व्यक्तियों की प्रतिष्ठा कुछ कम हो गई थी।

चीन के अतिरिक्त दक्षिणीय एवं पूर्वीय कुछ अन्य छोटे २ प्रान्तों या देशों में भी नाटक-कला पायी जाती है। विचारशील विद्वानों का विचार है कि उन देशों में भारत और चीन से ही यह कला जाकर प्रचलित हुई है। जापान ने चीन का ही अनुकरण करते हुये अपने यहाँ नाटकों का प्रारम्भ एवं प्रचार किया है। इसी प्रकार श्याम, मलाया आदि दक्षिण-पूर्वीय देशों में भारत की ही देखादेखी इस कला का उदय और विकास हुआ है। जावा आदि द्वीपों में नाट्यकला का प्रचार श्याम या मलाया के अनुकरण के आधार पर हुआ है। इन देशों में अब तक नाटक होते हैं और ऐसे रूप में होते हैं जो भारतीय नाटकों के रूपों से बहुत कुछ साम्य रखते हैं। इन देशों एवं द्वीपों की समाज, सभ्यता तथा इनका साहित्य भारतीय प्रभावों से खूब प्रभावित है, यहां के नाटकों में भी चारित्रिक एवं धार्मिक महत्ता की पूरी प्रधानता रहती है।

जैसा हम लिख चुके हैं, एशिया के पश्चिमीय देशों में यहां की जलवायु, परिस्थिति तथा धार्मिक रूढ़ियों के कारण नाट्यकला का प्रकाश-प्रचार नहीं हुआ। हां इन देशों से और पश्चिम की ओर चलने पर हमें मिश्रदेश में, जो भारत के ही समान बहुत प्राचीन तथा सुसभ्य देश है और जिसकी सभ्यता आदि भी बहुत ही उच्चकोटि की मानी जाती थी, इस कला के प्रचार-प्रसार का पता चलता है। प्राचीन काल में यहां नाटकों तथा नाट्यकला का अच्छा प्रचार-प्रकाश हुआ था, किन्तु खेद है कि अब यहां वह प्राचीन नाटक-साहित्य अपने किसी भी रूप एवं अंश में नहीं पाया जाता। यदि कुछ नाटक मिलते भी हैं तो वे अनुवाद या अनुकरण मात्र हैं।

विद्वानों का मत है कि मिश्रदेश से ही नाट्यकला यूनान देश में गई थी, और यूनानी लोगों ने मिश्र के ही आधार पर (उसी का अनुकरण करते हुये) अपने यहाँ नाटकों का प्रारम्भ व प्रचार किया था। दोनों के नाटकों में बहुत बड़ा साम्य पाया जाता है। खेद है कि मिश्र देश के भी नाटक-साहित्य तथा नाट्यकला का सुव्यवस्थित एवं पूर्ण इतिहास हमें प्राप्त नहीं है। कदाचित भारत के ही समान यहाँ की भी यह कला इतनी प्राचीन है कि उसके इतिहास का पता लगाना बहुत ही कठिन है, यदि यह पूर्णतया असाध्य नहीं है। अस्तु, हम इस विषय पर कुछ विशेष नहीं कह सकते।

—॥ इति ॥—

नाट्य-निर्णय

—ॐ—

मंगलाचरण

धीश-सुरति में सुरति करि, धरि उर शंकर ध्यान।
गिरिजा, गिरा, गणेश को, वन्दहु करि सन्मान ॥१॥
भारत-नाटक - शास्त्र के, जे श्रद्धेयाचार्य।
सादर तिनहिं प्रणाम करि, वन्दहुँ कविकुल-आर्य ॥२॥
वन्दहुँ पुनि साहित्य-प्रिय, कुंजविहारी लाल।
सुयस-सुरभि जाकी सरस, बिखरी विश्व विशाल ॥३॥
सुभग संस्कृत सरस वन, नाट्य शास्त्र रस-सद्म।
रचत "रसाल" सुमालिका, लहि ताते मृदु पद्म ॥४॥

———

काव्य:

सुन्दर सरस पदावली, भली माधुरी रम्य।
स्वाभाविक भाषा कली, भव्य भाव गति गम्य ॥५॥
काव्य कहत तेहि बुध सदा, किन्तु कहत कवितांहि।
छंद-छटा छहरी जहाँ, बस ऐसी कवितांहि ॥ ६ ॥

कविता

कीन्हे हैं द्विज काव्य के, गद्य, पद्य, दुइ भेद।
पद्यहि पद्य के करन गुण, छंद, गति उपभेद ॥ ७ ॥
पृथक पृथक तिनके नियम, रचि विद्वज्जन मीत,
छंद-रीति पिंगल कहत, गीत-रीति संगीत ॥ ८ ॥
काव्य-भेद हैं पद्यहि दुइ, वे हैं दृश्य, अदृश्य,
दोहुन में लखि लीजिये, पद्यन नाहिं सादृश्य ॥ ९ ॥
दृश्य-काव्य के ग्रन्थ जे, तिनको करिये खेल।
गद्य-पद्य संगीत को, तिनमें करिये मेल ॥ १०॥
किन्तु कबहुँ या नियम को, पालन पूर्ण न होय।
केवल गद्य कि पद्य ही, धरैं, काव्य तउ सोय ॥
केवल गद्य सुकाव्य जो, उपन्यास है ख्यात।
महाकाव्य, चम्पू तथा, पद्य-पूर्ण हैं भ्रात ॥
कवि जन कबहुँ यों लिखत, दृश्य न जाको होय।
पढ़ि सुनि नाटक-रस मिलत, पाठ्य कहावत सोय॥

दृश्य काव्यः

दृश्य काव्य जो लखि परै, जाको अभिनय होय।
जामें नाट्य-समनुकरण, रूपक कहिये सोय ॥११॥
वार्तालाप, सुकाव्य अरु, हाव-भाव, संगीत।
स्वाभाविक आदर्श गुण, तामें लखिये मीत ॥१२॥

पूर्व रंग

नाटक के प्रारम्भ में, पूर्व रंग-सुप्रधान, ।
करहु गुप्त नेपथ्य में, वाद्य, गान सुविधान ॥१३॥

सूत्रधार

अभिनय अरु पात्रादि की, करै व्यवस्था जौन ।
जो नाटक को सूत्रधर, सूत्रधार है तौन ॥
सहचर युग है संग सो, सूत्रधार लै फूल ।
ब्रह्मा-दश, दिग्पाल को, पूजि करत अनुकूल ॥१४॥

नांदी

देय सबहिं आनन्द जो, पूर्व रंग को अंग ।
देव, विप्र, नृप-यस कहै, नांदी सोय अभंग ॥
नांदी नांदी पाठ के, होत प्ररोचन संग ।
जामें नाटक-विषय को, दर्शक लखत प्रसंग ॥१५॥
तदनन्तर सब साज सजि, करि सुठि वेष विशेष ।
रंग-मंच पै करत है, स्थापक एक प्रवेश ॥१६॥

स्थापक

कवि, नाटक, अरु वस्तु की, करै प्रशंसा जौन ।
सबहि करै उन्मुख तथा, सखे ! प्ररोचन तौन ॥ क

प्रेक्षागृह

देत रंग-शालाहिं मुनि, प्रेक्षागृह यह नाम ।
तीन भांति के होत ये, नाटक-कौतुक-धाम ॥१७॥

है विकृष्ट, चतुरश्र अरु, त्र्यश्र सुनाटक-कुंज।
चित्रित चित्र विचित्र ते, जामें धुनि रह गुंज ॥८॥
उत्तम, मध्यम, नीच अरु, क्रम ते इन्हें बखान।
अष्ट और शत हाथ को, उत्तम, सुर-हित जान ॥९॥
चौसठ, बत्तिस हाथ को, मध्यम आयत-रूप।
धनिक, नृपन अरु सभ्यजन-हित यह होत अनूप ॥१०॥
दृश्य प्राकृतिक अन्य अरु, आवहिं नाटक मांहि।
तिन हिं दिखावन को सुभग, परदे साजे जाहिं ॥१५॥ क
इन परदन के बीच में, मार्ग बनाये जात।
जिनते नाटक-पात्र सब, इत उत आवत जात ॥ ख
नूतनता यामें अधिक, भई समय-अनुसार।
चारु चतुरता पूर्ण अब-कौतुक होत अपार ॥ ग
दृश्यावश्यकता यथा, परदे रहत तथैव।
कटे, छटे बहु विधि भले, होयँ कृत्य यथैव ॥ घ
दीप-प्रभा हू में बहुत, होत चातुरी नित्त।
दृश्य रुचिर आकृष्टकर, जाते मोहै चित्त ॥ङ
विद्युत की सुसहाय तें, सधत आज बहु काम।
आविष्कृत विज्ञान ते, दृश्य सजीव सकाम ॥ च
प्रेक्षागृह को अर्थ जो, दर्शक-हित निरधार।
दर्शक-हित आसन तहां, साजिय सोचि विचार ॥ छ

ऐसो करिय विधान तहँ, जाते दर्शक-वृंद।
भली भांति देखहि सुनहि, नाटक, रहि सानन्द ॥ ९

आसन-पंक्तिन में सदा, रखहु उतार-चढ़ाव।
पंक्ति सुवृत्ताकार हों, ऐसी रीति दृढ़ाव ॥ १०

होत त्रिभुज आकार को, अति लघु रूप निकृष्ट।
बस परिचित जन जहँ लखहिं, नाटक अपने इष्ट ॥११॥

प्रेक्षागृह को अर्ध जो, दर्शक-हित निरधार।
अभिनय हित शेषार्ध है, कहत "रसाल" विचार ॥१२॥

रंगशीर्ष

रंगमंच-पृष्ठांश को, रंग-शीर्ष है नाम।
षट् स्तम्भ-प्रपूर्ण यह, रचो जात है धाम ॥१३॥

देव, ब्रह्म-पूजन तहाँ, होवै सबै प्रकार।
याही में नेपथ्य-हित, बने रहत द्वै द्वार ॥१४॥

रंगमंच में राखिये, कबहुँ कबहुँ द्वै खंड।
नीचे लौकिक दृश्य हों, ऊपर लखु ब्रह्मांड ॥१५॥

नाटक की आत्मा

रस नाटक को प्राण है, छटा प्राकृतिक, अंग।
धर्म-कर्म-आदर्श-सुख, काव्य-कला हो संग ॥१६॥

चित्रित मानव-चरित शुचि, दर्शाते हों सद्भाव।
सद्गुण-शिष्टाचार को, जामें पड़े प्रभाव ॥१७॥

नाटक का ध्येय

समय, समाज, परिस्थिती, इन कर है आभास।
अर्थ, धर्म, कामादि फल, हित हो कथा-विकास ॥१८॥

नाटक-तत्त्व

वस्तु, पात्र, शैली तथा, देश - काल - उद्देश।
वार्तालापहु जानिये, नाटक - तत्त्व विशेष ॥१९॥

अनिवार्य तत्त्व

नायक, रस अरु वस्तु बस, तत्त्व मुख्य अनिवार्य।
कहत हमारे देश के, मान्य नाटकाचार्य ॥२०॥

सूच्य

यात्रा, भोजन, मृत्यु, रण, मार्जन अरु संजोग।
अनुलेपन, असनान अरु, विप्लव, देश-कुयोग ॥ क

नगरादिक रिपु ने घिरो, अधिकारी-वध और।
सूच्य सदा ये, दृश्य नहिं, कहत चतुर-शिरमौर ॥ ख

नायक को अरु नायिका, को पंचत्व न दृश्य।
सूच्यहु ना, जब लौं न वे, जीवित होंहि अवश्य ॥ ग

—o—

अधुना सब रस के लिखत, नाटक नाटककार।
मानव-जीवन-चित्र हो, साँचो, यही विचार ॥ घ

साधारण बातें

प्रथम कार्य-व्यापार पै, समुचित दीजै ध्यान।
विष्कंभक को कीजिये, ताके बाद विधान ॥ च

क०-नीरस विशेष भाग वस्तु को दिखाय जौन,
अति ही अपेक्षित, बचाय तेहि धरिये।
और अवशिष्ट सब अंश रस-पूर्ण जौन,
ताके अभिनय चतुराई करि करिये॥
लाय विष्कंभक में वही जो अपेक्षित है,
भाषत 'रसाल' ताहि युक्ति करि धरिये।
आमुख में सूचित सरस वस्तु संभव जो,
प्रथम है, ताके ना प्रयोग में पछरिये ॥ छ

मर्यादा-पालित सदा, होय, नाटकी वस्तु।
दर्शक-मन ऊबै नहीं, कारण यह हो अस्तु ॥२१॥

वस्तु-भेद

कथा-वस्तु के भाग द्वै, हैं सब भाँति प्रधान।
दृश्य लखहु प्रत्यक्ष ही, सूचित सूच्य बखान ॥२२॥

१-दृश्य

मधुरोदात्त रसार्द्र अरु, आवश्यक समहत्व।
वस्तु प्रभावकरीन को, दृश्य-भाग में सत्व ॥२३॥

नाटक का ध्येय

समय, समाज, परिस्थिती, इन कर हू आभास।
अर्थ, धर्म, कामादि फल, हित हो कथा-विकास ॥१८

नाटक-तत्व

वस्तु, पात्र, शैली तथा, देश - काल - उद्देश।
वार्तालापहु जानिये, नाटक - तत्व विशेष ॥१९

अनिवार्य तत्व

नायक, रस अरु वस्तु यम, तत्व मुख्य अनिवार्य।
कहत हमारे देश के, मान्य नाटकाचार्य ॥२०

सूच्य

यात्रा, भोजन, मृत्यु, रण, मार्जन अरु संजोग।
अनुलेपन, असनान अरु, विप्लव, देश-कुयोग ॥ [illegible]
नगरादिक रिपु ते घिरो, अधिकारी-वध
सूच्य सदा ये, दृश्य नहिं,
नायक को अरु नायिका, को
सूच्यहु ना, जब [illegible] ॥ [illegible]

अधुना सब

क०–फेरि मुख विद्यमान पात्र सों छिपाय कछु,
ताही के रहस्य पै कटाक्ष करै सामने।
ताहि अपवारित कह्यो है नाट्य शास्त्र सब,
जिन अति सुन्दर बनायो गुण-धाम ने।
तीन अंगुरीन ओट करि, ना अनामिका लै,
पात्र दुइ गुप्त बात करै करि यों मने।
भाखत "रसाल" सो जानान्तिक सुनै न कोऊ,
यद्यपि अनेक पात्र रहत हैं सामने ॥२८॥
आगत-गत की सूचना, नभ-भाषित सब देत।
दुहरावत सुनि प्रश्न ज्यों, पात्र उत्तर सोई देत॥२९

३–अश्राव्य

चहत न काहु सुनावनो, सुनत न जब कोउ बात।
स्वगत-आत्मगत कथन अस, अश्राव्यहु विख्यात ॥३०
गूढ़ मानसिक भाव सब, याते प्रगट लखात।
याहीं ते अश्राव्य की, महिमा मानी जात ॥३१॥

४–नभ भाषित

पात्र अदृष्ट मनुष्य को, प्रश्नोत्तर सों देत।
सो नभ-भाषित जानियें, पात्र ऊर्ध्व मुख लेत ॥३२॥

संकलनत्रय

संकलनत्रय को करहु, नाटक मांहि विचार।
वस्तु, समय और देश हैं, इनके मुख्याधार ॥३३॥

एक कृत्य, अरु एक थल, एक काल सम्बन्ध।
यूनानी आचार्य अस, राखत रीति निबन्ध ॥३४॥
वर्तमान युग में तदपि, ये ह्वै गये निकाम।
अस्वाभाविकता - जनक, ये, ताते नजु नाम ॥३५॥
एक मुख्य सिद्धान्त अरु, एक कथा साकार।
गौण कथादिक ग्रथित हैं, रहै स्वल्प आकार ॥३

घटनोचित क्रम

सक्रम घटनौचित्य हो, घटनान्तर्गत काल।
स्वाभाविकता लै चलै, दर्शक जानहिं हाल ॥३
शाला-दृश्य-समान हो, एक स्थल के योग।
एक दृश्य नाटक रहै, करिये अस उद्योग ॥३
पश्चिम नाटक-सार अरु, है विरोध आधार।
माने नाटक के करन, मुख्य पांच प्रकार ॥३
है 'आरम्भ,' विरोध जनक घटनाओं का प्रकाशकारी।
तिनहिं 'विकाश' बढ़ावत तिनकी 'सीमा' पूर्ति सूतिका
विजय विनिश्चित विजयी को हो, उसे उतार 'निगति' कहि
अंत 'विरोध' अंत में होवै, तब 'समाप्ति' पंचम लहिये ॥

—:o:—

काल-व्यवस्था दोष सब, अस्वाभाविक भाग।
गृह्य गुमरा प्रिय कदरना, मुनि कह याकौ त्याग ॥

नाटकोद्देश्य

जीवन-व्याख्यालोचना, नाटक को उद्देश।
जग-जीवन को अर्थ का, का आदर्श विशेष ॥४०॥

कार्य की अवस्थायें

हैं आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ती, सुफलतागम ये।
इष्ट फलोत्कंठा प्रारम्भिक, यत्न यत्न में अनुपम ये॥
है फल-प्राप्ति-आश प्रत्याशा, निश्चितता हो तब नियताप्ति।
रूपक-कथा-वस्तु-क्रम अंतिम है फल आगम में फलप्राप्ति॥

—०—

नाटकीय मुख्य सिद्धान्त

नाटक मोदप्रद तथा, प्रिय हो सबहिं नितान्त।
सच्चरित्र आदर्श लहि, दर्शक होहिं न क्लान्त ॥क

याहीं तें नित मुनि कहत, नाटक रचहु सुखान्त।
भारतीय सिद्धन्त यह, नाटक हो न दुखान्त ॥ख

दृश्य कबहुँ अस राखिये, जिनको यह सिद्धान्त।
सज्जन-उन्नति प्रगट हो, दंड्य दुष्ट जन अन्त ॥ग

यूरुप अरु यूनान के, जितने नाटककार।
नाटक में ऐसे रचत, मानवीय व्यापार ॥घ

मानवीय उद्योग की, महा महत्ता मान।
सकल भांति ता कहँ रचत, संतत श्रेष्ठ प्रधान ॥ङ

सामाजिक नैतिक तथा, धर्मादर्शहु इष्ट।
जीवन-गति उद्देश मय, करें सौख्य की वृष्टि॥

—:०:—

साधारण बातें

क०—नायक को कृत्य होत अंक में प्रत्यक्ष तातें,
नाहि रस-भाव-परिपूरण बनाइये।
कारण अयान्तर हों अंक मांहि पूर्ण सब,
विन्दु मात्र ताके एक अंशहिं बचाइये।
एक दिन की हो कथा एक अंक में सदैव,
ऐसो ध्यान राखि अंक दूसरे रचाइये।
भाषत "रसाल" राखि नियम हृदय मांहि,
सब अंग-पूर्ण पूर्ण रूपक दिखाइये॥

नाटक-भेद

पांच अंक जामें रहत, नाटक ताको जान।
जामें हों दश अंक लौं, नाटक तौन महान॥
अंक मध्य जो आवही, तेहि गर्भाङ्क बखान।
नाटक गत नाटक अपर, यामें दर्शित जान॥
नायक को उत्कर्ष बढ़ावन हित जो होइ सको उपयोग।
रंग द्वार, आमुख आदिक को यामें लखिये सदा प्रयोग॥
वस्तु तथा रस को होवै है याके अन्तर्गत सुविकास।
होवै है सुस्पष्ट रूपसों बीज तथा फल को आभास॥

हो आपेक्षित नित्यही, नाटक-वस्तु उठान।
आखिर लौं निर्वाह तेहि, है यह मंत्र प्रधान॥
दर्शक उत्सुक ह्वै लखैं, चकित होय सद्ध्यान।
लै रहस्य पेसो धरहु, रूपक में कहुँ जान॥
प्रतिकूल स्थित भाग्य को, प्रगटत सदा विरोध।
कैसहु फल नीको बुरो, होय यहै अवबोध॥ ञ
दैविक अथवा मानुषी, चाहैं जो प्रतिरोध।
होय, तऊ होवै नहीं, मानव-यत्न निरोध॥ छ
भारत में पै भाग्य है, पूर्व-जन्मकृत कर्म।
(पुरुष साथ सो नित रहै, जीवन को यह मर्म)॥ ज
समय-परिस्थिति-भाग्य ते, निश्चित सब व्यापार।
दूसर तिनतें होय नहिं, है यह आर्य-विचार॥ झ
ह्वै स्वतंत्र सब भांति ही, जीव करत नित कर्म।
बनत बुद्धि तिनके सदृश, कर्म-वाद को मर्म॥ ञ
पूर्व जन्म कृत कर्म-फल, भाग्य कहावत नित्त।
मिलत परिस्थिति ता सदृश, राखहु यह निज चित्त॥ट
ताही ते आदर्श लखि, करहु सदा शुभकार्य।
जाते बुद्धि भली बनै, फल, शुभ, भाग्यहु आर्य॥ ठ
एक भाव को जौन विधि, प्रगटत विविध प्रकार।
तैसहि निश्चित भाग्य-फल, में ह्वै सकत सुधार॥ ड
जीवन-फल है सुख सदा, चाहत जाहि नितान्त।
सब प्राणी, ताते रखहु- नाटक नित्त सुखान्त॥ ढ

नाट्य प्रधान विशेषता, दृश्यकाव्य में मित्र।
अभिनय देखत होत अति, रस-परिप्लावित चित्त॥४३
नायकादि को रूप धरि, गुण, स्वभाव अरु धर्म।
पात्र दिखावत तिनहिं के, सानुकरण सब कर्म॥४४॥

अभिनय-भेद

अभिनय चार प्रकार के, करत अनुकरण-पूर्ति।
अनुकर्ता की एकता, देत नाट्य में स्फूर्ति॥४५॥
अंगन सों जाको सदा, संपादन सुठि होय।
आंगिक[1] ताकहँ जानिये, अतिप्रधान है सोय॥४६॥
वाचिक[2] रसना सों प्रगट, वेषन सो आहार्य[3]।
सात्त्विक[4] अभिनय-हित सदा, सात्त्विक भाव सुधार्य॥
करत वास्तविकता प्रगट, कल्पितता करि दूरि।
करि रस को उद्रेक त्यों, बनत नाट्यकी मूरि॥४८॥
श्रव्य-काव्य में करत जो, शब्द, अर्थ, दै काम।
दृश्यकाव्य में करत वह, अभिनय चार ललाम॥४९॥

नाटक पर विचार

आवश्यक अभिनय विषे, अंतिम फल की प्राप्ति।
कीजिय सोच विचार कै, तासों याकी व्याप्ति॥
हृदयामोद-प्रमोद हो, होवे मन बहलाव।
अभिनय करिबे को सदा, मुख्य यहै है भाव॥
हितकर उच्चादर्श को, चित्र सहित उपदेश।
जीवन की व्याख्या रहै, यही मुख्य उद्देश॥

कैसो जीवन होत जग, केवल यहै विचार।
नाटक की रचना करहिं, नहिं पटु नाटककार॥
जीवन कैसो चाहिये, सर्वोत्तम है कौन।
जैसो जीवन ह्वै सकत, दर्शित कीजिय तौन॥
संधि-अर्थ-प्रकृतीन लै, साथ अवस्थन लेय।
करि फल को निश्चय सखे!, नाटक यों रच देय॥

—o—

अन्तर्गत संधीन के, संध्यन्तरहू जान।
अन्तर संधिन-लक्षहू, संधिन-लक्ष समान॥
करै अग्रसर लाय पुनि, चमत्कार भरपूर।
कार्य-शृंखलहिं नित्त करि, तासु शिथिलता दूर॥
लोचन-मन प्रत्यक्ष ही, करत समनुभव दृश्य।
दृश्य काव्य को असर है, स्थायी अधिक अवश्य॥२०
नयन-विषय बस रूप है, जाते अभिनय युक्त।
ताते नाटक-नाम है, "रूपक" अति उपयुक्त॥२१॥

लास्य-भेद:

नारी हो या पुरुष कोउ, ह्वै आसन-आसीन।
शुष्क गान स्वर सों करै, वाद्ययंत्र गहि बीन॥
गेयपाद ताको कहत, मुजरा हू विख्यात।
पुरुषगान यदि होय तौ, कहहु गौनई तात॥
मदनप्रतप्ता नायिका, बैठि दुखित मन दीन।

कहियं इम्यिति पाठ्य जो, सहज पाठ-लय-हीन ॥
चिंतित शोकित कामिनी, बाजाविन कर गान।
भूषनतजि कहुँ बैठि तेहि, पाठ्यासीन बखान ॥
नारि पुरुषको, पुरुष अरु, करै नारि को खेल।
पुष्पगंडिका कहि लखहु, वाद्यगान को मेल ॥
लखि निज प्रियतम को कहूँ, अन्य नायिकासक्त।
दुखित प्रेम-विच्छेद लखि, होय विरह अनुरक्त॥
वीणा लै कछु गावई, शान्ति-प्राप्ति के काज।
प्रच्छेदक ताको कहत, नाट्यशास्त्र-पटु राज ॥
मंजु, मधुर, मृदु नाट्य कर, नर धरि नारी-वेष।
ताहि त्रिगूढ बतावहीं, नृत्त - विज्ञ सविशेष ॥

रूपक के उपकरण

रूपक के उपकरण में, नृत्य और है नृत्त।
दृश्य काव्य-अभिनयन में, रखिये इनको नित ॥ ५० ॥

नृत्त

भाव-प्रदर्शन-हित कियो, जात अनुकरण जोय।
काहू व्यक्ति विशेष को, नृत्त कहावत सोय ॥ ५३ ॥
आंगिक अभिनय को सदा, यामें है प्राधान्य।
हाव-भाव युत नकल की, संज्ञा इनकी मान्य ॥ ५४ ॥
अभिनय जामें होय नहिं, केवल नर्तन होय।

नृत्य

नीति-कथन सों रहित जो, नृत्य कहावत सोय ॥ ५५ ॥
नृत्त, वाद्य, लय, ताल के, नृत्य, भाव-आधीन।
रूपक, रस-निर्भर रहैं, कहत "रसाल" प्रवीन ॥ ५६ ॥
रूपक माँहि प्रधान रस, ऐसो रखिये चित्त।
उपरूपक में नृत्य अरु, नृत्त मुख्य हैं नित्त ॥ ५७ ॥

नृत्त-भेद

नृत्त-भेद तांडव तथा, लास्य लीजिये मान।
लास्य मधुरतामय सदा, उद्धट तांडव जान ॥ ५८ ॥
कहत लास्य के चतुर जन, सुन्दर हैं दस अंग।
हम संक्षेपहिं तें कहे, यह, न हमार प्रसंग ॥ ५९ ॥
दृश्यकाव्य की वस्तु यह, होय कथानक जोय।

दृश्य काव्य-वस्तु के भेद

अधिकारिक, प्रासंगिकहु, विभजित जानो सोय ॥ ६० ॥

आधिकारिकी

मूल कथानक-वस्तु जो, आधिकारिकी तीन।

प्रासंगिक

प्रासंगिक है वह कथा, गौण रूप है जौन ॥ ६१ ॥

—०—

१) सुव्यक्त करि, वीणायुत हो गान।
विशेष न किन्तु हो. सैंधव ताकहं जान ॥

मुन्दर मम मव पद रहैं, संधियुक्त संगीत।
रस अरु भाव-प्रपूर्ण जो, कहु द्विगूढ़ तेहि मीत
रोमामोदक सरस सुठि, हाव-भाव युत गान।
साक्षेप पद-योजना, उत्तमोत्तक जान॥
उक्ति और प्रत्युक्ति-युत, अप्रिय मिथ्याभास।
उक्तप्रत्युक्तहिं लखहु कछु, उपालम्भ सविलास

—o—

अधिकार

रूपक-फल के प्राप्ति की, होत योग्यता जौन।
नायक-फल-अधिकार यह, है स्वामित्वहु तीन॥८२
नायक, यह अधिकार लै, अधिकारी ह्वै जात।
ता अधिकारी की कथा, अधिकारिक विख्यात॥८३

प्रासंगिक

है नायक इतिवृत्ति जो, याको यनि इक अंग।
प्रासंगिक है वस्तु यह, आयत पाय प्रसंग॥८४॥
प्रासंगिक में और की, कार्य-सिद्धि निज होय।
नायक-स्वार्थहु सिद्ध हो, यदि प्रसंग सम होय॥८५॥

भेद

प्रासंगिक के भेद द्वै प्रकार, पताका और।

प्रकरी

प्रकरी सप्रतिबंध है, सानुबंध है और ॥६६॥

अस्थानक

धारावाहिकता जवै, चमत्कार युत होय।
लखहु पताका में तहां, अस्थानक है सोय ॥६७॥

पताका-स्थानक

एक भाव प्रस्तुत रहे, आगंतुक पै आय।
और करावै कार्य कछु, सविधान कछु पाय ॥६८॥
कार्य इष्ट कछु और हो, करन परै कछु और।
कहत पताका स्थानकहि, यों बुधजन-सिरमौर ॥६९॥
कहत सबै आचार्य मिलि, याके चार प्रकार।
अति आवश्यक ये नहीं, कहत "रसाल" विचार ॥७०॥

प्रथम पताकास्थानक

पाय जहां कहुं कौनहू, प्रेमयुक्त उपचार।
होय सिद्ध कछु इष्ट गुरु, तहँ है प्रथम प्रकार ॥७१॥

द्वितीय

चतुर वचन-गुंफित जहां, सुन्दर रचना होय।
शिलष्ट वाक्यविन्यास जहं, है द्वितीय वस सोय ॥७२॥

तृतीय

अगर अर्थ सूचक तथा, अन्यकार्थक क्लिष्ट ।
निश्चययुत जहँ वचन हों, उत्तर हू हों श्लिष्ट ॥७३॥

चतुर्थ

फल प्रधान सूचित करैं, वचन द्वयर्थक होय ।
श्लेष वचन रचना जहां, है चतुर्थ यस सोय॥७४॥
दीजै काहू संधिमें, नित्य इनहिं करि ध्यान ।
कहुँ अमंगल-अर्थ कहुँ, मंगल-अर्थ प्रधान ॥७५॥
कथावस्तु को चलत लै, जो प्रधान फल काज ।

वस्तु की अर्थ प्रकृति

अर्थ-प्रकृति सो अंश है, चमत्कार जहं साज ॥७६॥
नाटक अर्थोद्देश्य हित, जो प्रयत्न समहत्व ।
अर्थ-प्रकृति है पांच ये, वस्तु-कथानक-तत्व ॥७७॥
जो प्रधान फल-हेतु है, मुख्य कथा-आधार ।

१-बीज

बीज कहावत वह प्रकृति, क्रम क्रम जासु प्रसार ॥७८॥
चलत अवान्तर कथहिं लै, आगे होय निमित्त ।

२-बिन्दु

अविच्छिन्न जो रह कथा, बिन्दु कहावत नित्त ॥७९॥
होय पताका-नाथ को, भिन्न कबहुं फल नाहिं ।

नायक-फल की सिद्धि-हित, रह अभिलाषा ताहि ॥८०क

प्रकरी

इकदेशीय प्रसंगगत, स्वल्प चरित जो होय।
नायक-फल-साधक सदा, प्रकरी कहिये सोय ॥ ८०ख
प्रकरी-नायक को नहीं, हो स्वतंत्र उद्देश्य।
अब 'रसाल' या विषयमें, चहत न कहब विशेय ॥ ८०ग
कहो पताका प्रथम ही, प्रकरी दूजी बात।
और अधिक कहियो यहां, आवश्यक न दिखात ॥८०

कार्य

जासु सिद्धि के काज सब, होत यत्न हूँ आर्य।
रुपक को आधार जो, तौन कहावत कार्य ॥८१॥
पांच अवस्था कार्य की, होतिं सदा प्रधान।
संक्षेपहि में कहत हैं, तिनहिं 'रसाल' बखान ॥८२॥
कीनहु फल की प्राप्ति-हित, जहं औत्सुक्य अनूप।

१-आरम्भ

रुपक में आरम्भ को, तहां लेखिये रूप ॥८३॥

२-प्रयत्न

ता फल-हित उद्योग जहं, यत्न प्रयत्न तहं जान।

३-प्रत्याशा

आशा हो जहं प्राप्ति की, प्रत्याशा तहं मान ॥८४॥
यदपि विफलता की कछु, आश कहूँ पै होय।

४–नियताप्ती

निश्चय जहँ साफल्य हो, नियताप्ती है सोय ॥८०॥
वांछित फल की प्राप्ति है, इष्ट-सिद्धि के साथ ।
होय फलागम नहँ जहां, लगै सफलता हाथ ॥८२॥

५–फलागम

होय प्रयत्नारम्भ जहँ, प्रथम अंश में व्याप ।
अंतिम में नियताप्ति अरु, होय फलागम प्राप ॥८३॥
प्रत्याशा मध्यांश में, ऐसो जहां विधान ।
कह "रसाल" नाटक वही, रूपक-वृन्द-प्रधान ॥८४॥
भिन्न भिन्न इस्थिति प्रकट, करैं अवस्था आय ।
अर्थ-प्रकृति सूचित करैं, कथा-वस्तु को लाय ॥८५॥
नाटक-रचना के करहिं, प्रगटित भाग-विभाग ।
संधिन को कर्तव्य यह, जिनहिं नाट्य-अनुराग ॥ क
प्रथम कहत हैं कार्य को, दूसर वस्तु विचार ।
नाटक-रचना करत हैं, संधिहिं नित निरधार ॥ ख

नाटक-संधियाँ

च अवस्था योग ते, अर्थ-प्रकृति-विस्तार ।
करत कथानक जौन है, पंचाकार-प्रकार ॥८६॥
प्रयोजन को जहां, मध्य प्रयोजन संग ।

संधि

होन जहां सम्बन्ध तहं, है बस संधि प्रसंग ॥१०॥
नाटक को बाढ़त बहुत, संधिन सों बिसतार।
नाट्यशास्त्रपटु जन करत, इनके पांच प्रकार ॥११॥
प्रारम्भावस्था जहां, बहु रसार्थ करि व्यक्त।

मुख संधि

अर्थ-प्रकृति-बीजहिं जनत, तहं मुख संधि सुकृत्य ॥१२
बीज और प्रारम्भ को, यामें होनै मेल।
विविध अर्थ-रस करत हैं, जानें उर में खेल ॥१३॥
कहत चतुर, मुख-संधि के, देखहु द्वादश अंग।
संक्षेपहिं हम कहत लखि, व्यर्थ न बढ़ै प्रसंग ॥१४॥

१–उपक्षेप

बीज सदृश इतिवृत्त जो, सूक्ष्म सुप्रस्तुत होय।
तासु सरल निर्देश जो, उपक्षेप है सोय ॥१५॥

२–परिकर

प्रस्तुत जो इतिवृत्त है, तासु विषय-विस्तार।
ताको परिकर कहत हैं, बीज सु वृद्धि विचार ॥

३–परिन्यास

बीजसिद्धि निष्पत्ति या, वर्णनीय जो होय।
तासु प्रकाशन सौख्य जो, परिन्यास है सोय ॥१७॥

४-विलोभन

हृदय विलोभन-हित जहां, सरस गुण कथन होय ।
कहत नाटकाचार्य सब, मित्र विलोभन सोय ॥९८॥
होत प्रयोजन को जहां, सम्यक निर्णय ज्ञान ।

५-युक्ति

नाटक-ग्रंथन में सदा, तहं ही युक्ति समान ॥९९॥
दुःख-व्यथादि-विनाश हो, प्राप्त होय सुख मिष्ट ।

६-प्राप्ति

नाटक में तहं प्राप्ति है, होय सिद्ध जहं इष्ट ॥१००॥
बीज होय या रूप में, पुनः प्रदर्शित यत्र ।

७-समाधान

नायकादि-अभिमत प्रगट, समाधान है तत्र ॥१॥

८-विधान

सुख-दुख कारण करत है, प्रगटित सखे! विधान ।
कह "रसाल" ऐसो कहत, विद्या-बुद्धि-निधान ॥२॥

९-परिभावना

विस्मय कारक दृश्य लखि, बात कुतूहल युक्त ।
होय जहां परिभाव तहं, जानहु भयो प्रयुक्त ॥३॥
बीजरूप में गुप्त जो, होत रहस्य महान ।

१०--उद्भेद

तासु प्रकाशन होन जहं, तहं उद्भेद बखान ॥४॥

११--करण

प्रस्तुतार्थ-आरम्भ जहं, करण तहाँ ही होय ।

१२--भेद

जो प्रोत्साहन करत है, भेद कहावत सोय ॥५॥
मुख संधी के बीज को, लक्ष्यालक्ष्य प्रकार ।

प्रतिमुखसंधि

हो उद्भेद जहां तहां, प्रतिमुख संधि विचार ॥६॥
कार्य-शृंखलहिं अग्रसर, करत, कहत गुणवान ।
यत्न-अवस्था विन्दु सो, अर्थ-प्रकृति, समान ॥७॥
फल प्रधान मुख संधि के, किंचिन्मात्र विकास ।
होत प्रतिमुख संधि में, गुप्त रहस्य-निकास ॥८॥
कहत त्रयोदश अंग हैं, याके विद्वद् वृन्द ।

१--विलास

है विलास, जहं कामना, तासु सु दे आनंद ॥६॥
दृष्ट वस्तु जब नष्ट हो, तासु खोज जहं होय ।

२--परिसर्प

तहं परिसर्प बताइये, कह 'रसाल' सब कोय ॥१०॥

होत निरभ्रून अनृत सों, प्रीति-जनक

३—विधूत

है विधूत तहं जानिये, कहत नाट्य

४—शम या तापन

अरति-लोप जहं, शम तहां, 'तापन' है कहु
जहां उपायाभाव हो, तापन कहिये मे

५—नर्म

नर्म, जहां परिहास हो, तद्रूप दीनानन्द।

६—नर्मद्युति

छिपत अन्य परिहास सों, नर्म द्युति तहं मे
उत्तर प्रत्युत्तरन में, जहां वचन उत्कृष्ट।

७—प्रगमन

कह 'रसाल' कवि जानिये, तहं है प्रगमन इष्ट।
हितकर वस्तु-सुप्राप्ति में, होय जहां प्रतिरोध।

८—निरोध

तहं निरोध है, कहत कछु, दुःख प्राप्तीहिं विरोध॥

९—पर्युपासन

जहां क्रोध को होत है, अनुनय सर्व प्रकार।
तहं पर्युपासन

१०—पुष्प

पुष्प सदृश फलत हृदय, सुनि मृदु प्रेमालाप।
पुष्प संधि तहं जानिये, जहं सुख-शान्ति-कलाप ॥१७॥

११—उपन्यास

युक्ति पूर्ण वचनान सों, उपन्यास बनि जात।

१२—वज्र

निठुर कुलिश सम वचन सों, वज्र संधि है ख्यात॥१८॥

१३—वर्ण संहार

चतुर्वर्ण-सम्मिलन जहं, तहां वर्ण संहार।
याते लक्षित पात्र हैं, कछु यों करत विचार ॥१९॥

गर्भसंधि

प्रति मुख संधि प्रगट कछु, बीजहिं बारम्बार।
तिरोभाव अरु खोज त्यों, आविर्भाव, प्रसार ॥२०॥
फल प्रधान-साधक कछू, प्रासंगिक वृत्तांत।
रहत पताका रूप में, यामें मित्र! नितान्त ॥२१॥
होत सफलता सम्भवित, तथा विफलता संग।
प्रत्याशा को रहत है, यामें सदा प्रसंग ॥२२॥
संग २ दोऊ रहत, यामें यही विचार।
गर्भसंधि के देखिये, तेरह अन्य प्रकार ॥२३॥

१—अभूताहरण

होन अभूताहरण नहं, कपट-वचन जहं होय।

२—मार्ग और ३—अधिबल

सत्य थान जहं मार्ग तहं, धोखा, अधिबल सोय ॥२४॥

४—रूप

हों वितर्क युत वाक्य जहं, तहां रूप ही होय।

५—उदाहृति या उदाहरण

जामें वचनोत्कर्ष हो, उदाहरण है सोय ॥२५॥

भाव वास्तविक ज्ञान हो, इष्ट-प्राप्ति क्रम होय।

६—क्रम और ७—उद्वेग

सो क्रम है, रिपु-भय जहां, तहं उद्वेगहि गोय ॥२६॥

८—संग्रह

साम-दाम युत उक्ति जहं, संग्रह तहां बखान।

९—अनुमान

चिन्ह देखि अनुमान जहं, तहां कही अनुमान ॥२७॥

गर्भस्थित जो बीज है, तौन जहां सुस्पष्ट।

१०—आक्षेप

कह "रसाल" जानहु तहां, आक्षेपहि है इष्ट ॥२८॥

११—तोटक

क्रोध-परुष हो वचन जहं, तहं तोटक को वास।

१२—संभ्रम

"संभ्रम या विद्रव" तहां, जहँ हो शंका-त्रास ॥२६॥

१३—प्रार्थना व क्षिप्त

हरिगी०—है प्रार्थना तहँ, हो जहां रति, हर्ष, सुन्दर चाव हो।
अभ्यर्थना हो उत्सवों के हित यही यम भाव हो॥
हो जब रहस्य-प्रकाश, तब तहं क्षिप्त है यह जानिये।
कुछ जन प्रशस्तिहि निर्वहण में नहिं लक्वहिं यों मानिये॥

अवमर्श या विमर्श

हो अधिक विस्तृत बीज पुनि होवै फलोन्मुख सो जबै।

संधि

हो विघ्न, शाप, विपत्ति आदिक से विमर्श लखो तबै॥
संगत यहां नियताप्ति, प्रकरी, साथ २ विलोकिये।
तेरह प्रकार विमर्श संधिहिं नित्यही अवलोकिये ॥३१॥

१—अपवाद

दोष जहां विवरै, तहां, जानहु है अपवाद।

२—संफेट

तहं संफेट बखानिये, जहां सरोष विवाद ॥३२॥

३—विद्रव

वध, बंधन आदिक जहां, विद्रव तहां बखान ।

४—द्रव

कह 'रसाल' द्रव है तहां, जहं गुरु-जन-अपमान ॥३३॥

५—शक्ति

जहं विरोध को शमन हो, शक्ति तहां त्यों जान ।

६—द्युति

तर्जन-गर्जन हो जहां, तहं द्युति लीजै मान ॥३४॥

७—प्रसंग

गुरु जन-गुण-कीर्तन जहां, तहां प्रसंग बखान ।

८—व्यवसाय और ९—छलन

शक्ति कथन, व्यवसाय है, छलन, जहां अपमान ॥३५॥

१०—विरोधन

कार्य-विघ्न-ज्ञापन जहां, तहां विरोधन जान ।

११—प्ररोचना

अर्थ-सिद्धि सूचित करत, प्ररोचना अनुमान ॥३६॥

१२—विचलन और १३—आदान

विचलन, जहां वहकिवो, स्वार्थ-सिद्धि, आदान।
कहत "रसाल" विमर्श के, ये ही अंग प्रधान ॥३७॥

निर्वहण संधि

चारों पूर्व संधिन में अर्थ के प्रयोजन की, सिद्धि—
समाहार निरवहण में जानिये ।
होवै मुख्य फल हू की प्राप्ति त्यों फलागम में,
अर्थ प्रकृति कार्य हू को यामें मेल मानिये ॥
भाषत "रसाल" ऐसो निर्वहण हाल-कह्यो,
कार्य औ फलागम को नित्य यामे आनिये ।
चौदा अंग आगे याके कहैं बुद्धिमान इमि,
लक्षण लखाय नाम तिनके बखानिये ॥३८॥

१—संधि

बीजोद्भावन को कहहिं, संधि सुनौ चितलाय।

२—विबोध

तहं विबोध, जहं कार्य को, अनुसंधान लखाय ॥३९॥

३—ग्रथन

कार्योपक्षेपकहिं कह, ग्रथन नाम सों आर्य।

४—निर्णय

जहं अनुभव को कथन हो, तहं निर्णय है धार्य ॥५०॥

५—परिभाषण

श्रवण-कथन पारम्परिक, परिभाषण है ध्यान।

६—प्रसाद

पर्युपासना हो जहां, तहं प्रसाद है ज्ञान ॥५१॥

७—आनंद और समय

वांछितआप्ति, आनंद है, समय, जहां दुख दूर।

८—कृति

है कृति, जहं लब्धार्थ सों, शोक, शमन भर पूर ॥५२॥
साम, दाम, यश, मान की, प्राप्ति जहां ही होय।

९—भाषण

कह "रसाल" कवि मित्रवर, भाषण कहिये सोय ॥५३॥
कार्य-प्रदर्शन होय जहं, अद्भुत मिलै पदार्थ।

१०—पूर्व भाव और ११—उपगूहन

पूर्व भाव तहं जानिये, उपगूहन है सार्थ ॥५४॥

१२—काव्य संहार

जहां मिलन वरदान तहं, लखहु काव्य संहार।

१४—प्रशस्ति

मिलै शुभाशिर्वाद जहँ, तहां प्रशस्ति विचार ॥४५॥
पांच संधियन के भये, यों सब चौंसठ अंग।
अब इनके उद्देश्य को आगे लखहु प्रसंग ॥४६॥
षट निमित्त सों होत है. इनको सदा प्रयोग।
यों 'रसाल' संतत कहत, जे साहित्यक लोग ॥४७॥
जो रचना को लक्ष्य है, तासु पूर्ति के काज।

१—इष्टार्थ

लावत हैं इष्टार्थ को, नाटक में कविराज ॥४८॥
गुप्त जाहि राखियो चहैं, ताहि छिपावन हेतु।

२—गोप्यगोपन

राखि गोप्यगोपन तहां, रचत कथा को सेतु ॥४६॥

३—प्रकाशन

जाहि प्रगट करियो चहै, तेहि प्रगटावन अर्थ।
ताहि प्रकाशन सों प्रगट, करहिं सुकाव्य-समर्थ ॥५०॥

४—राग

भावन के संचार हित, राखत हैं कवि, राग।

५—आश्चर्य-प्रयोग

करि आश्चर्य-प्रयोग पुनि, रचहिं चमत्कृत याग ॥५१

दर्शक रुचि थिर रखन हित, करहिं कथा-विस्तार।
होत चतुर अनुपक्ष नहं, अरु वृत्तान्त-प्रसार ॥५२॥
अंगहीन नर होत ज्यों, मारी भाँति अयोग्य।
अंगहीन त्यों काव्य ह, नहिं प्रयोग के योग्य ॥५३॥
नायक प्रतिनायक करहिं, संधि-अंग के कार्य।
करें पताका-नायकहु, कहत नाटकाचार्य ॥५४॥
अनुपस्थित ये होंय यदि, करें और तौ अन्य।
पात्र प्रधानहि योग्य है, नहि है योग्य जघन्य ॥५५॥
उपक्षेप, परिकर तथा, परिन्यास के बीच।
अर्थ-बीज रंचक अतः, करहु प्रवर्तित नीच ॥५६॥
रस-व्यक्ति हित कीजिये, अंगन को व्यवहार।
शास्त्र-प्रणाली को नहीं, राखहु चहै विचार ॥५७॥

वृत्ति

नायक अरु नायिकन के, रस-उत्कर्षक कार्य।
तिनहिं वृत्ति यह नाम दे, कहत नाटकाचार्य ॥५८॥

कैशिकी

कर सिंगार रस को सुविकास।
जामें काम-कला-सुविलास ॥
ताहि कैशिकी वृत्ति बखानौ।
रस सिंगार की पोषक जानौ ॥५९॥

सात्विकी

२—शौर्य, दया, दानहिं सुप्रकासै।
नायक-साहस-तेज विकासै॥
नाहिं सात्विती वृत्ति बखानी।
वीर रसापोषक यहि मानी॥

आरभटी

३—क्रोध, युद्ध आदिक दिखरावै।
रौद्र रसहिं आरभटी भावै॥

भारती वृत्ति

३—मधुर, मनोहर लै गिरा, कोमल पद युत जौन।
सब रस में सम ह्वै चलै, वृत्ति भारती तौन॥

—:o:—

आमुख

समयोचित कछु बात जब, पात्र प्रवेशन-काज।
सूत्रधार नटि सों करै, सो आमुख को साज॥
यहै सुप्रस्तावना कहावै। प्ररोचना के पाछे आवै॥

अंकावतार

अग्रिमांक की सूचना, अंक-अन्त में होय।
सुभग अंकअवतार है, आर्य कहत हैं सोय।

प्रवेशक

दुइ अंकन के बीच जो, होवै बीती बात ।
अभिप्राय लघु पात्र सों, सूच्य, प्रवेशक जान ॥

अंकमुख

अंक-पात के हेतु की, जहां सूचना होय ।
नाटक में तहं अंकमुख, मित्र कहावै सोय ॥

गर्भाङ्क

अंक-मध्य में अंक जो, सूत्रधार कृत होय ।
प्रस्तावना, सुबीज युत, है गर्भाङ्कहि सोय ॥

संधि

कार्य-अंग को बीज सों, मेल युक्ति के साथ ।
मिलै जहां तहं जानिये, संधि आइगे हाथ ॥
इनसों वर्णित वस्तु के, पट विभाग सुप्रधान ।
मुख, प्रति मुख, अवमर्ष अरु गर्भ, निवर्हण जान ॥
हो इतिहास प्रसिद्ध पै, रस - व्यक्ति प्रतिकूल ।
तजहु कि परिवर्तित करहु, राखहु ताहि न भूल ॥५८

अर्थोपक्षेपक

दुइ अंकन के बीच, में, रहत समय जो काम ।
अर्थोपक्षेपक कह्यो, ता सूचक को नाम ॥५६॥
अंकन में राखहु तिन्हैं, दृश्यवस्तु जो नित्त ।
एक दिवस घटना रहै, धरहु नियम यह चित्त ॥६०॥

संभव ऐसो होय नहिं, तौ संक्षेप बखानि।
    अंक असम्बद्ध न रहै, काव्य - सुभगता - हानि ॥६१॥
होय वस्तु-विन्यास सुठि, बढ़ै कार्य-व्यापार।
    दुइ घटनन के मध्य की, घटनहु को सुविचार ॥६२॥
एक वर्ष तक को समय, अंतर्हित यों होय।
    ताहि न्यून करि लीजिये, अधिक समय यदि होय ॥६३॥
विष्कम्भक अरु चूलिका, प्रवेशक, अंकास्य।
    अर्थोपक्षेपक विषे, अंकऽवतार प्रकास्य ॥६४॥
पूर्व कथा, अग्रिम तथा, संक्षेपहिं कह जोय।

१—विष्कम्भक

सूचित मध्यम पात्र सों, विष्कम्भक वह होय ॥६५॥
शुद्ध और संकीर्ण द्वै, याके भेद बखान।
    भाषा-नाटक में नहीं, ऐसे भेद प्रधान ॥६६॥
छूटि जाय जो कछु कथा, तासु सूचना देय।

२—प्रवेशक

कहत प्रवेशक, जासु हो, भाषा, पात्रहु हेय ॥६७॥

—o—

वस्तुस्थिति को देखि कै, पात्र-कल्पना होत।
    वृत्ति, अवस्था, प्रकृति लखि, तासु कार्य को स्रोत ॥ अ

नायक

वर्णित वस्तु विशेष को, फल भोगत है जौन।
    जापै निर्भर हो कथा, नायक जानिय तौन ॥ ब

दिव्य, अदिव्यऽरु मिश्र ये, नायक तीन प्रकार।
ललित, प्रशान्त, उदात्त अरु, धीरोद्धतहु विचार ॥

भेद

ये स्वभाव अनुसार हैं, चार भेद पुनि मान।
नायक की प्रिय प्रेमिका, ताहि नायिका जान ॥ द
नायक अरु नायिकन को, भेद चहौ जो और।
तौ 'रसाल'-रस—ग्रन्थ लै, करहु ध्यान से गौर ॥ य
मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ ये, भेद अवस्था जान।
स्वीया, परकीया, बहुरि, सामान्या पहिचान ॥ फ
कुलटा, *गणिका आदि तौ, होहिं नेत्री नीच।*
लक्षण इनके देखिये, रस-ग्रन्थन के बीच ॥ ज

उपनायक

नायक को प्रति पक्षी जौन, उपनायक कहलावत तौन ॥ त
नायक-हितू विदूषक मित्र, ताको परम विचित्र चरित्र ॥ थ
त्यों नेत्री की सखी सहेली, ताहि सिखावैं प्रणय-पहेली ॥ द

मुखसंधि

कथारंभ मुख-संधि है, याते कथा-प्रसार।
कार्यारंभहि में सदा, याको करौ विचार ॥ न

प्रतिमुख

मुख्य संधि के बीज को, प्रकटाप्रकटाभास।
जहाँ, तहाँ प्रति मुख कहौ, *कहत 'रसाल' प्रकास* ॥ प

गर्भ

प्रति मुख-बीज विलोप जहं, कछु कारण सों होय।
तासु खोज को यत्न जहं, गर्भ कहावै सोय ॥च

अवमर्ष

वस्तु-बीज-विस्तार हैं, विघ्न परै कछु आय।
नियताप्ती के बीच में, यह अवमर्ष लखाय ॥ छ

निर्वहण

सब संधिन की बात को, जहां मेल मिल जाय।
उपसंहृति निर्वहण यों, संधि परै तहँ आय ॥ क
आवत यह दुइ अंक के, मध्य भाग में नित।
प्रथम अंक में कबहुँ नहिं, याकी अतः प्रवृत्ति ॥ ख
सूचित हो नैपथ्य से, कुछ रहस्य सुमधान।

३—चूलिका

कहत चूलिका ताहि सब, नाट्य-शास्त्र-विद्वान ॥६६॥
होय अंक आरम्भ में, पात्रद्वय में बात।
एक पात्र नेपथ्य में, दूजो मंच लखात ॥७०॥

खंड चूलिक

खंड चूलिका कहत तेहि, यह न अतीव प्रधान।
भाषा-नाटककार तो, याको रखैं न ध्यान ॥७१॥
एक अंक के अन्त में, आगतांक की बात।

३ अंकास्य

हो अंकास्यारंभ में, पात्रन-द्वारा ज्ञात ॥७५॥
पूर्व अंक की जो कथा, अपर अंक में सोय।

चलत बराबर हो रहै, अंतर इतनो होय ॥७३॥
अंक-अंत में पात्र सब, त्यागहिं मंच अकेल।

आगतांक-आरम्भ में, आइ करहिं पुनि खेल ॥७४॥

५ अंकावतार

याही सों याको कहहिं, पृथक अंक अवतार।

कहत अंक मुख अपर बुध, अंतर यही विचार ॥७५॥
एक अंक में सब अंकन की, हो अविकल सूचना जहां।

बीजभूत अर्थहिं करि सूचित, रहै अंक मुख लगी तहां॥
अंग्रिमांक की कथा-सूचना देवै जो अंकास्य वही।

अंक मुख

किन्तु अंक-मुख में सब नाटक की सूचित हो कथा सही॥

—:o:—

विदूषक

नायक को जो मित्र है, जो संग अनुदिन पाग।

जो आमोद-प्रमोद हित, करत विविधि विधि राग॥
अनुचित-उचित बनावही, है सब भांति स्वतंत्र।

ताहि विदूषक कहत हैं, जो देवै हित मंत्र॥

सद्गुण-शुद्धाचरण मय, दूषण आदि-विहीन।
मिथ्या वचन प्रयोग में, जो हो स्तत प्रवीन॥
हो हितेच्छु हिय सों सदा, रचै न जो छल-छद्म।
जाके संमुख हों प्रगट, बाहर-भीतर सद्म॥
समवयस्क, शुचि वर्ण हो, देश-काल-गति-विज्ञ।
रीति, नीति, कौशल, कला, सों नहिं हो अनभिज्ञ॥

पूर्वरंग

रंगस्थल के विघ्न सब, दूर करन हित जोय।
कृत्य पूर्व अभिनयन के, पूर्व रंग है सोय॥७७॥
बजन नगाड़ा आदि में, जाने जानहि लोग।
होन चहत अब मंच पै, नाटक को संयोग॥७८॥
एक दास जल-पात्र लै, सूत्रधार सँग-जात।
अपर दास के हाथ में, इंद्रध्वजा फहरात॥७९॥
ता जल सों करि निजहिं शुचि, पुनि गहि इंद्र-निशान।
सूत्रधार यों मंच पै, करत अस्तवन-गान॥८०॥

रंगद्वार

नान्दी याही को कहत, रंगद्वार पुनि होय।
जो अभिनय है होन को, यातें सूचित सोय॥८१॥
करत विदूषक सों पुनः, निज दासन सों बात।
नाटक की दै सूचना, सूत्रधार फिर जात॥८२॥

उमा और भूतादि-हित, होत पुनः कछु नृत्य।
ध्वजा-वंदना आदि है, रंगद्वार को कृत्य ॥८३॥

स्थापक

स्थापक अपने वेष सों,देत यही आभास।
दैवी अथवा मानवी, है है कथा प्रकास ॥८४॥
सो०—नाटक को लै नाम, नाट्यकार को यश कहै।
जो ऋतु अति अभिराम, वाह को वर्णन करै ॥८५॥
अब नाटक-आरम्भ में, हो वस नांदी-पाठ।
स्वस्ति-वचन, अस्तवन, पद, द्वादश हों के आठ ॥८६
वस्तु-बीजमुख, पात्र को, स्थापक करत प्रकास।
सूत्रधार ही करत अब, इन सब को सुविकास ॥८७॥

भारती वृति

इन सब कृत्यन में रहत, भारति वृत्ति-विधान।
चार अंग जाके कहत, नाटक-नियम-निधान ॥८८॥

प्ररोचना

प्रस्तुत श्लाघा सों बढ़त, उत्कंठा मन माँहि।
श्लाघा-भेद, प्रभेद द्वै, प्ररोचना कै आदि ॥८९॥
देश, काल-श्लाघा जहाँ, तहाँ प्रयोजन होय।
नायक, कवि, नट, सभ्य की, श्लाघा चेतन सोय ॥९०

प्ररोचना

[illegible] पाठ समाप्त करि, सूत्रधार जब आय।
[illegible], कवि अरु वस्तु की, श्लाघा दे दरसाय ॥ [illegible]

ताको कहत प्ररोचना, नांदी मँगलाचार।
पूर्व रंग के मुख्य ये, अँग बाईस प्रकार॥ख॥

कवि और सभासद

प्रौढ़, विनीतोद्धत तथा, कवि, उदात्त हैं चार।
प्रार्थनीय, प्रार्थक तथा, हैं दुइ सभ्य प्रकार॥६१॥
विस्तृत अरु संक्षेप द्वै, प्ररोचना के रूप।
इनको वर्णन अन्यतः, लखिये वृहद् अनूप॥६२॥
पारिपार्श्वक या नटी, सों, करि वार्तालाप।

आमुख

नाटकादि में जात करि, आमुख, उक्ति-कलाप॥६३॥
प्रस्तावन अरु स्थापना, द्वै मुख, आमुख मांहिं।

प्रस्तावना

प्रथम मांहि वीथ्यंग के, यह प्रयोग ह्वै जांहिं॥६४॥

स्थापना

जामें सब वीथ्यंग के, होत प्रयोग प्रधान।
कह "रसाल" तहँ स्थापना, को लखि लेहु विधान॥
वीराद्भुत प्रस्तावना, आमुख में शृंगार।
रौद्र और वीभत्स में, अस्थापना प्रसार॥६६॥
सूत्रधार के वचन या, लै उनहीं को भाव।
पात्र कहत कछु मंच पै, करि अभिनय-प्रस्ताव॥६७॥

कथोद्घात

कथोद्घात जानहुँ तहाँ, जहँ यों नाटक-चेत्र ।
नम-भाषित आधार लै, करहुँ कर पात्र प्रवेश ॥९८॥

प्रवर्तक

सूत्रधार कृत ऋतु-कथन, सों लै आश्रय यत्र ।
पात्र मंच पै आवही,होन प्रवर्तक तत्र ॥९९॥

प्रयोगातिशय

सूत्रधार जहँ पात्र को, ह्वै है जासु प्रवेश ।
तहँ प्रयोग अतिशय लखो, जहँ समक्ष निर्देश ॥१००॥
उद्घातक, अवलगित हैं, इनके जानहु संग ।
दर्पण जो साहित्य को, तामें यही प्रसंग ॥१॥

उद्घातक

इष्ट अर्थ-बोधक जहां, होवै पद असमर्थ ।
और पदावलि दीजिये, अर्थ-बोध के अर्थ ॥२॥
उद्घातक ऐसी जगह, मित्र लीजिये जान ।
कथोद्घात के सदृश यह, अन्तर है न महान ॥३॥

नाटक की जननी सदृश, वृत्तिहिं जानहु तात ।
ये उपजावैं रसहिं, जो, नाटक-जीवन ख्यात ॥ क

अवलगति

करि साहृश्योद्भावना, जब कहुँ काहु प्रकार।
सूचित पात्र-प्रवेश हो, तहँ अवलगित विचार ॥४॥
एक प्रयोगहि में शुरू, होनै अन्य प्रयोग।
सूचित पात्र-प्रवेश हो, तहँ हू याको योग ॥५॥
यह प्रयोग-अतिशय-सदृश, देख लेहु किन मित्र।
कह "रसाल" तौहू दियो, पृथक नाम सुविचित्र ॥६॥

वृत्तियाँ और तदंग

वृत्ति

वृत्ति शब्द को अर्थ है, साधारण बरताय।
रंग-ढंग सज-धज तथा, वेष-भाव अरु हाय ॥७॥
हैं साहित्य-प्रधान ये, तीन भांति की वृत्ति।
रीति-वृत्ति अरु जानिये, कहत "रसाल" प्रवृत्ति ॥८॥
वेष विशेष बनाइयो, सजि सजि सुन्दर साज।

प्रवृत्ति

कहत प्रवृत्ति "रसाल" तेहि, कोविद-कुल-सिरताज ॥९॥

वृत्ति

हो विलास जामें प्रगट, तासु वृत्ति है नाम।

रीति

वचन-चातुरी को कहत, रीति कलागुण-धाम ॥१०॥
चाल अनोखी होय अति, चोखी दृष्टि गंभीर ।
मुसकाते मुख सों कहै, वचन मधुर, मृदु, धीर ॥११॥
स्वाभाविक, आंगिक अदा, हाव-भाव साभास ।

विलास

मनमोहै रसिकान को, सो तरुणी-सुविलास ॥१२॥
वाचिक, आंगिक, सात्विकहु, अरु चतुर्थ आहार्य ।
रस-उत्पादन करत जो, वृत्ति कहत तेहि आर्य ॥१३॥
आरभटी अरु सात्विती, तथा भारती रम्य ।
वृत्ति चार लै कैशिकी, हो तु भाव-रस-गम्य ॥ १४ ॥
शब्द-वृत्ति है भारती, अर्थ-वृत्तियां तीन ।
ऋग्यजु, साम, अथर्व ते, इन्हैं जन्म है दीन ॥१५॥
नृत्य, गीत अरु वाद्य, रस, भाव पूर्ण शुचि दृश्य ।
सम्य वृत्तियां रहत हैं, इन हीं के नित वश्य ॥१६॥
सात्विक, भावन सों भरी, होत सात्विती वृत्ति ।
होत कैशिकी में सदा, गीत-सुनृत्य-प्रवृत्ति ॥१७॥
वध, बंधन, रण, रोष अरु, माया-उद्भव कर्म ।
भूरि भाव भीषण सदा, आरभटी को मर्म ॥१८॥
रीति-नियम संस्कृत के, नहिं भाषा के योग ।
तिनहिं न बरनत 'रसाल' कवि, जानि प्रसंग-प्रयोग ॥१९

नाट्य-भारती वृत्ति यह, जाको भरत प्रयोग ।
करत विशेष प्रकार सों, संस्कृत भाषा योग ॥२०॥
नाटक के आरम्भ में, होत यही अनुमान ।
समहिं-विमोहन-हित करत, नट याको सुविधान ॥२१॥
प्ररोचना, आमुख हु को, मानत याको अंग ।
याही ते इनमें लखहु, याको बहुत प्रसंग ॥२२॥

प्ररोचना

विषय-प्रशंसा सों जहां, दर्शक जन को चित्त ।
उत्कंठित नट करत हैं, सो प्ररोचना-कृत्य ॥२३॥

आमुख

बात चीत पारस्परिक, कौशल-पूर्वक जाय ।
हो अभिनय आरम्भ में, आमुख कहिये सोय ॥२४॥
हास्य तथा शृंगार मय, कल्पित कथा बनाय ।
उक्ति तथा प्रत्युक्ति सों, दर्शक-मन हर्षाय ॥२५॥
रुचि उत्कंठित करि तथा, खींचि सभा को चित्त ।
अभिनय को आरम्भ पुनि, होत रहो यों नित्त ॥२६॥
याही तें प्रस्तावना, प्रहसन-वीथी युक्त ।
होत रहे, पाछे भये, ये रूपक उपयुक्त ॥२७॥
आदि, मध्य, अवसान में, सब रस नाटक माहिं ।
प्रहसन मनोविनोद हित' अधुना खेलें जाहिं ॥२८॥

जा नाटक में देखिये, करुणा रसहिं प्रधान ।
आदि, मध्य, अवसान में, प्रहसन रखहु समान ॥२९॥
किन्तु करो क्रम यों कि कछु, होवे नहिं रस-भंग ।
दुःखित हृदयामोद-हित, कछु हो हास्य-प्रसंग ॥३०॥
प्रहसन रखिये आदि में, नाटक जहां सुखान्त ।
अंत माहिं तेहि राखिये, नाटक जुपै दुखान्त ॥३१
आदि-अन्त करुणा-जनक, जहं यों नाटक होय ।
प्रहसन-वीथी दुहुन को, क्रम सों धरहु संयोज ॥३२॥
जब नाटक के मध्य में, हो करुणा-दुख-मेल ।
आदि-मध्य में राखिये, तब प्रहसन को खेल ॥३३॥
आदि मांहि प्रहसन सदा, होवै किन्तु अवश्य ।
मन प्रसन्न, आकृष्ट रुचि, हो उत्कंठित, वश्य ॥३४॥
वीथी में वीथ्यंग को, राखहु अवशि प्रयोग ।
अन्य रूपकन में रहै, ऐच्छिक इनको योग ॥३५॥
वीथी के वीथ्यंग हैं, तेरह,लीजै जान ।
आगे जिनको नाम कहि, लक्षण करत बखान ॥३६॥
एक अंक प्रहसन रहै, जामें हास्य प्रधाना ॥
जामें हो शृंगार रस, ताको वीथी जान ॥३७
सो०—कवि-कल्पित वृतान्त, इन दोहुन में देखिये ।
मानें जात नितान्त, अंग भारती वृति के ॥३८॥

प्रस्तावना-सदंग ये, प्रहसन-वीथी होय ।
रूपक ये पाछे भये, अनुमित ऐसो होय ॥३६॥
गूढार्थक, पर्य्याय हू, शब्द, वस्तु ज्ञानार्थ ।

उद्घात्मक

प्रश्नोत्तर माला जहां, उद्घात्मक तहं सार्थ ॥४०॥
इक प्रस्तुत व्यापार में, जहं दूसर व्यापार ।

२-अवलगित

सादृश्यादिक सों सखे ! तहं अवलगित विचार ॥४१॥
प्रस्तावना प्रकार ये, हैं वीथ्यंगहु दोय ।
ऐसो मानत हैं सखे !, आचार्यहु कोउ कोय ॥४२॥

३-प्रपंच

असत्कर्म-कारणन सों, आपस में उपहास ।
होय प्रशंसा साथहूँ तहां प्रपंचाभास ॥४३॥

४-त्रिगत

श्रुति-समता सों शब्द के, बहुत अर्थ जहँ होय ।
पूर्वरंग में पात्र त्रय, कहहिं, त्रिगत हैं सोय ॥४४॥

५-छलन

देखन में तौ प्रिय लगहिं, अप्रिय होहिं यथार्थ ।
छलन कहावत वाक्य ये, होहिं सदा छलनार्थ ॥४५॥
कौनहु काजहिं लक्ष्य करि, कैतवार्थ जो हास ।
रोषकरी वाणी जहां, तहँहूँ छलनाभास ॥४६॥

६—वाक्केली

कहत कहत वक्तव्य कछु, जहँ रुकि जावै बात।
हास्य-जनक हो उक्ति जहँ, तहँ वाक्केली तात ॥७
बहु प्रश्ननको एकही, उत्तर होनै यत्र।
कहत कछुक आचार्य यों, वाक्केली है तत्र ॥८॥

७—अधिबल

दुइ पात्रन के बीच जहँ, बढ़ि २ बातें होय।
कह 'रसाल' नाटक विषे, अधिबल मानहु सोय ॥९॥

८—गंड

प्रस्तुत सों सम्बंध रचि, सूचत दूसर अर्थ।
त्वरायुक्त हो वाक्य जो, गंड सोय अरुपर्थ ॥१०॥

९ अवस्यंदित

सीधे सीधे वाक्य सों, काढ़त और प्रकार।
अवस्यंदित दूसर अरथ, कहत नाटककार ॥११॥

१० नालिका

हास्य-पूर्ण गूढ़ार्थ-मय, होय पहेली जोय।
कह 'रसाल' लखि लीजिये, मित्र नालिका सोय ॥१२

११ असत्प्रलाप

असम्बद्ध उत्तर तथा, उटपटांग आलाप।
मूरख-हित हित-वचन है, अविदित, असत्प्रलाप ॥१३

१२–व्यवहार

हास्यपूर्ण क्षोभक वचन, रहैं तहाँ व्याहार।
पर-प्रयोजन-सिद्धि हित, इनको हो व्यवहार ॥५४॥

१३–मृदव

जहां दोष गुण, और गुण, दोष होय प्रत्यक्ष।
मृदव तहां ही जानिये, कह "रसाल" कवि-दक्ष ॥५५
हास्य रसोद्भव हित सदा, रचे जात वीथ्यंग।
प्रहसन वीथी है अतः, प्रस्तावना-सदंग ॥५६॥
प्रहसनांग येहैं सकल, जितने हैं वीथ्यंग।
आवश्यक वीथी विषे, ऐच्छिक प्रहसन संग ॥५७॥
प्रहसन के कहुँ मानते, दश और ही प्रकार।
केवल हम नामहिं कहत, जानि बढ़ै विस्तार ॥५८॥
अवस्कंद, व्यवहार, भय, अनृत, अवलगित जान।
विप्रलम्भ, विभ्रान्ति अरु, गद्गद् वाणी मान ॥५९॥
पुनि प्रलाय उपपत्ति हैं, कहे रसार्णव मांहि।
हिन्दी भाषा में कहूँ, ये नहिं देखे जांहि ॥६०॥
उप संधी इकईस हैं, सखे! पुस्तकन मांहि।
कह "रसाल" तिन के इहां, नाम गिनाये जांहि ॥६१

१–साम

स्वानुवृति जो प्रकट कर, वाक्य मधुर प्रिय होय।
कह 'रसाल' उपसंधि मृदु, साम कहावत सोय ॥६२॥

२–दान

श्रापति प्रतिनिधि रूप में, स्वाभूषण जहँ होय ।
कह "रसाल" उपसंधि तहँ, दान कहावत सोय ॥६३

३–भेद

कपट-वचन हो प्रगट जहँ, हो सुहृदन में भेद ।
कह "रसाल" उपसंधि तहँ, जानिलेहु है भेद ॥६४॥

४–दंड

अविनय को लखि सुनि तथा, जहाँ डांट फटकार ।
कह "रसाल" तहँ जानिये, भयो दंड व्यवहार ॥६५॥

५–प्रत्युत्पन्नमति और ६ वध

पंचम प्रत्युत्पन्नमति, षष्ठम वधहि बखान ।
दुष्टन को वध होत है, जहँ पै दमन विधान ॥६६॥

७–गोत्रस्खलित

नामव्यतिक्रम जहँ, तहाँ, गोत्रस्खलित बखान ।

८–ओज

निजबल सूचक वचन जहँ, तहाँ ओज पहिचान ॥६७॥
इष्ट सिद्धि अब भौं नहीं, तबभी चिन्ता व्याप्ति ।

९–धी

बुद्धि होय जहँ धी ताहि !, धी की जानहु प्राप्ति ॥६८॥
माया, नाट्यक, खेल, भय, उपसंधी ये चार ।

बिन लक्षण ही के लखहु, स्वार्थक सबै प्रकार ॥६९॥
जहँ पै अपने कथन के, देवै पात्र छिपाय।

१४—संकृति

कह "रसाल" संकृति तहाँ, जानहु साफ लखाय ॥७
स्वप्न, लेख, मद, चित्र अरु, भ्रांन्ति, दूत्य, लै संग।
बिन लक्षण ही ये करैं, अपनो प्रगट प्रसंग ॥७१॥
प्रगट कौनहू हेतु सों, कौनहु निश्चय होय।

२१—हेत्ववधारण

कह 'रसाल' उपसंधि है, हेत्ववधारण सोय ॥७२॥
"प्रति नायक जो राखिये, तौ नायक-विपरीति।
हो गुणकर्म स्वभाव सब, ऐसी रखिये नीति ॥ क"

रूपक-भेद

रूपक, उपरुपक तथा. ये द्वै भेद प्रधान।
उपरूपक के अष्ट दश, रुपक के दश जान ॥७३॥
नाटक, प्रकरण, भाण, डिम, समवकार, व्यायोग।
ईहामृग, वीथी करहु, प्रहसन, अंक - प्रयोग ॥७४॥
पंच संधि अरु चार हैं, नाटक - वृत्ति प्रधान।
छत्तिस लक्षण संधि में, चौसठ अंग बखान ॥७५॥

नाटक के लक्षण

अलंकार तेंतीस हों, कछु न होय सकलंक।
पांच तथा दश लौं लिखहु, नाटक के सब अंक ॥७६॥

पौराणिक कोऊ कथा, होवैं सदा सुखान्त।
त्रेता, द्वापर, कलि-चरित, हो भारत को प्रान्त ॥७७॥

नायक

नायक धीरोदात्त हो, दिव्यादिव्य कुलीन।
वीर, प्रतापी, शुभगुणी, साहस कर्म-प्रवीन ॥७८॥
होवैं सब आदर्श गुण, कला-कुशल धर्मज्ञ।
देश-जाति-प्रभु-भक्त हो, नीति-रीति मर्मज्ञ ॥७९॥

नायिका

होइ नायिका हू तथा, यथा सुनायक मित्र।
सरस भाव आदर्श-मय, होवे कथा विचित्र ॥८०॥
करुणा, वीर, शृंगार अरु, हास्य रसन महँ एक।
होवैं स्थायी रूप सों, व्यभिचारीहु अनेक ॥८१॥
अद्भुत दीजै संधि में, इन सब को करि बोध।
नाट्य नियमालोचना, करत आर्य मुनि शोध ॥८२॥

प्रकरण

नाटक-सम सब और कछु, प्रकरण माँहि निदान।
रस शृंगार प्रधान है, कल्पित कथा बखान ॥८३॥

भाण

पात्र गगन-भाषित कहै, दुष्ट-चरित को चित्र।
शिक्षा माँहि दर्शक हँसहि, भाण तीन हैं मित्र ॥८४॥

व्यायोग

एक अंक, बिन नायिका, रस हो वीर प्रधान।
कह "रसाल" व्यायोग में, इक दिन-कथा बखान ॥८५॥

समवकार

समवकार में वीर रस, तीन अंक में दीन्ह।
द्वादश नायक, फल पृथक, तामें लीजै चीन्ह ॥८६॥

डिम

समवकार से भय अधिक, चार अंक डिम सोय।
षोडश नायक असुर हों रौद्राद्भुत रस होय ॥८७॥
नायक-प्रति नायक लरहिं, एक नायिका काज।
नायक ताहि न पावहीं, होय युद्ध को साज ॥८८॥

ईहामृग

ईहामृग ताको कहत, ऐसो जहां प्रसंग।
कह "रसाल" यामें रहत, वीर, करुण रस संग ॥८९॥

अंक

नारि-शोक करुणा भरो, एक अंक जो होय।
रूपक लघु अकार को, अंक कहावै सोय ॥९०॥

वीथी

एक अंक, नायक तथा, रस शृंगार - विनोद।
भाण-सरिस वीथी रहत, दर्शक लहहिं प्रमोद ॥९१॥

प्रहसन

कल्पित निंदित जन चरित, होतं हास्य प्रधान।
भांग, हास्य, उपदेशयुत, प्रहसन नाहि बखान ॥९२॥
सो०—अष्टादश हैं भेद, उपरूपक के जानिये।
बिन यह जाने भेद ! नाटककार न यश लहैं ॥९३॥
क०—त्रोटक प्रकरणिका, भाणिका, विलासिका त्यों,
श्रीगदित, शिल्पक औ रासक बनाइये।
सट्टक, प्रस्थान,काव्य, गोष्ठी, नाट्यरासक औ,
नाटिका दुर्मल्लिका, हल्लीशहू मिलाइये॥
प्रेंखण, औ संलापक, साथ त्यों उल्लापहु लै,
भाषत "रसाल" ख्याल करि जोरि जाइये।
धन्य ! मुनि भरत, भरत जौन नाट्य-ज्ञान,
भारत - साहित्य - मान मान श्रेष्ठ गाइये ॥९४॥
दो०—भाषा में ये सब नहीं, संस्कृत हू में नाहि।
सविस्तार वर्णित अतः, ये नहिं कीन्हें जांहि ॥९५॥

नाट्य-वेष भूषादि

अभिनय मूलोद्देश्य है, कृत्य सर्वथा स्पष्ट।
रहै वास्तविकता परम, ह्वै न सकै वह नष्ट ॥९६॥
अभिनय याते होय अस, मनहु सत्य सब होय।
ऐसो बनक बनाइये, रूप साँच जनु सोय॥

———